

काल विधान काल विज्ञान का क्रमिक वर्णन

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्रा

वेदों एवं पुराणादि में सृष्टि-प्रलयात्मक अनादि एवं अनन्त काल प्रवाह के परिज्ञान तथा ब्रह्म की उत्पत्ति एवं उनकी आयु की गणना, कल्प, ब्राह्मदिन, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, मनु, मास, पक्ष, तिथि, वार, घटी, पल, निमेष काष्ठादि सूक्ष्म एवं स्थूल काल परिमाणों का वर्णन किया गया है। इस काल गणना के नियामक सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की स्थिति गति एवं निरूपण में सहायक नक्षत्रों एवं राशियों का भी विवरण उपलब्ध होता है। पुराणों में ब्राह्म दिवसादि के अतिरिक्त वैष्णव एवं रौद्र काल का भी वर्णन हुआ है जो ब्राह्म काल की अपेक्षा अति दीर्घकाल का संकेत करता है।

१-ब्रह्मा

“सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।” इस वाक्य में विधाता ब्रह्मा द्वारा सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रहों, नक्षत्रों तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पूर्वानुकल्पीय रचना का वर्णन किया गया है।

विष्णु पुराण के प्रथम अंश के तृतीय अध्याय में ब्रह्मा की उत्पत्ति एवं उनकी आयु आदि का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। तदनुसार “मैत्रेय ने प्रश्न किया कि जो ब्रह्मा निर्गुण अप्रमेय शुद्ध और निर्मलात्मा है उसका सर्गादि का कर्ता होना कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में पाराशर ने कहा समस्त भाव पदार्थों की शक्तियाँ ज्ञान की विषय होती हैं। अतः अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचना रूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। उनके अपने काल मान से उनकी आयु सौ वर्ष की कही जाती है। उस सौ वर्ष के काल का नाम ‘पर’ है। इसका आधा परार्द्ध कहलाता है। विष्णु के काल स्वरूप द्वारा उस ब्रह्मा की तथा अन्य और भी जो पृथ्वी, पर्वत, समुद्र एवं चराचर जीव हैं उनकी आयु का परिमाण ज्ञात किया जाता है। वह इस प्रकार है-पन्द्रह निमेष को काष्ठा कहते हैं। तीस काष्ठा की एक कला तथा तीस कला का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का मनुष्य का एक अहोरात्र होता है। उतने ही दिन रात के दो पक्षों का एक मास तथा छः महीनों का एक अयन होता है। दक्षिणायन और उत्तरायण इन दो अयनों का एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओं की रात्रि है और उत्तरायण दिन। देवताओं के बारह हजार वर्षों का एक महायुग होता है जिसमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग नामक चार युग होते हैं।

कल्प

कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है। दिन के तुल्य ही (१ कल्प की) रात्रि होती है-
१. श्वेतवाराह २. नीललोहित ३. वामदेव ४. गाथान्तर ५. रौरव ६. प्राण ७. बृहत्कल्प

८. कन्दर्प ९. सत्य १०. ईशान ११. ध्यान १२. सारस्वत १३. उदान १४. गरुड़ १५. कौर्म (कौर्म को ब्रह्मा की पूर्णमासी का दिन कहा जाता है), १६. नारसिंह १७. समाधि १८. आग्नेय १९. विष्णु २०. सौर २१. सोमकल्प २२. भवन २३. सुप्रमाली २४. वैकुण्ठ २५. आर्चिष २६. वल्मीक २७. वैराज २८. गौरी कल्प २९. माहेश्वर ३०. पितृकल्प।

तीस कल्पात्मक दिनों से ब्रह्मा का एक मास होता है। ऐसे बारह महीनों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की परमायु होती है। इस विवरण के अनुसार वर्तमान ब्रह्मा की आयु के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

मन्वन्तर (मनु)

७१ महा युगों (चतुर्युगों) का एक मनु होता है आर्थात् एक मनु (मन्वन्तर) में; (७१ × १२००० दिव्य वर्ष) = ८५२००० दिव्य वर्ष तथा मानवीय मान (सौर वर्ष) के अनुसार ३०६७२०००० वर्ष होते हैं। इसी प्रमाण वाले कुल १४ मनु होते हैं। मनुओं के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं।

१-स्वाम्भुव २-स्वारोचिष ३-उत्तम ४-तामस ५-रैवत ६-चाक्षुष। इन छः मनुओं का काल व्यतीत हो चुका है। सम्प्रति ७-वैवस्वत मनु का काल चल रहा है। तदनन्तर ८-सावर्णि ९-दक्षसावर्णि १०-ब्रह्मसावर्णि ११-धर्मसावर्णि १२-रुद्रसावर्णि १३-देवसावर्णि तथा १४-इन्द्रसावर्णि।

वेद एवं ब्राह्मणों वचनों में युग के प्रसंग में कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त संहिता एवं ब्राह्मण वचनों में अनेकत्र संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर नामक पञ्चवत्सरों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदांग ज्योतिष एवं महाभारत में इस पाँच संवत्सरात्मक युग का वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में वर्णित सृष्टिक्रम के प्रसंग में उल्लिखित कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग नामक लाखों वर्षों वाले चार युगों के उल्लेख से यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि यह चतुर्युगी कल्पना सृष्टिकाल के विस्तृत अवधि के मापनार्थ निरूपित है। किन्तु पञ्चसंवत्सरात्मक युग की कल्पना पञ्च वर्षव्यापी किसी वैदिक याग की अवधि को निरूपित करती है। मानव वर्ष के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, एवं कलियुग का कालपरिमाण क्रमशः निम्न प्रकार है-

सत्ययुग	-	१७२८००० सौर वर्ष
त्रेतायुग	-	१२९६००० मानव वर्ष
द्वापर युग	-	८६४००० मानव वर्ष
कलियुग	-	४३२००० मानव वर्ष

यज्ञीय दृष्टि से परिकल्पित युग में क्रमशः संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर

एवं इद्वत्सर नामक पाँच वर्षों की आवृत्ति मानी जाती है। इसके लिये युग का प्रयोग औपचारिक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः “युग” शब्द ‘चार’ संख्या का द्योतक होता है। अत एव कृत आदि के अर्थ में ही ‘युग’ शब्द रूढ़ हो गया है।

संवत्सर

भारतीय संवत्सर पाँच प्रकार के हैं। सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और बार्हस्पत्य। इनमें नाक्षत्र और बार्हस्पत्य संवत्सर का उपयोग ज्योतिष विषयक गणना में प्रमुख रूप से होता है। अन्य तीन संवत्सरों का विवरण क्रमशः निम्नांकित हैं:-

सावन वर्ष-यह वर्ष ३६० दिनों का होता है। एक दिन का मान सूर्योदय से सूर्योदय तक होता है। संवत्सर की स्थूल गणना इसी के अनुसार होती है। इसमें एक महीना तीस दिनों का होता है।

चान्द्र वर्ष-यह वर्ष ३६० चान्द्र दिनों (प्रायः ३५४ सावन दिनों) का होता है। अधिक मास का निर्धारण इसी संवत्सर के अनुसार माना जाता है। अधिक मास होने पर इसमें १३ मास अन्यथा १२ मास होते हैं। इसमें एक मास शुक्ल प्रति पदा से अमावस्या तक अथवा कृष्ण प्रतिपदा से पूर्णिमा तक माना जाता है। प्रथम को अमान्त मास एवं द्वितीय को पूर्णिमान्त मास कहते हैं। दक्षिण भारत में अमान्त मास एवं उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास प्रचलित हैं।

सौर वर्ष-यह वर्ष ३६० सौर दिनों (प्रायः ३६५ सावन दिनों) का होता है। यह सूर्य की मेष संक्रान्ति के आरम्भ से प्रारम्भ होता है और पुनः मेष संक्रान्ति आने तक चलता है। सूर्य प्रतिदिन १ अंश की गति से चलता प्रतीत होता है। सूर्य के एक अंश का भोग काल एक सौर दिन होता है।

भारत के व्रत-उत्सवादि में प्रायः चान्द्र संवत्सर ही उपयोग में आता है किन्तु बंगाल, पंजाब, नेपाल तथा कहीं-कहीं अन्यत्र सौर वर्ष भी व्यवहृत होता है।

अस्तु, भारतवर्ष में प्रायः चान्द्र एवं सौर यही दो संवत्सर सम्प्रति उपयोग में आते हैं। स्थूल दृष्टि से ३६० दिनों के संवत्सर की चर्चा की जाती है। किन्तु व्यवहार में प्रायः इसका उपयोग नहीं होता है। क्योंकि व्यवहार में दिन के रूप में सावन दिन तथा वर्ष के रूप में सौर-वर्ष ही लिए जाते हैं। अतः एक वर्ष में सावन दिनों की संख्या ३६५ दिन १६ घटी के आसन्न मानी जाती है।

“संवसन्ति ऋतवोऽस्मिन् संवत्सरः” (क्षीर स्वामी, अमरकोश, कालवर्ग २०) तथा “संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि”^१ निरुक्त की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार ऋतुओं

के परिवर्तन (चक्कर) को संवत्सर या वत्सर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी ऋतुयें जब एक बार समाप्त हो जाती हैं और जब उनका दूसरा चक्कर आरम्भ होता है, तब एक संवत्सर पूर्ण होकर दूसरा संवत्सर आरम्भ होता है। इसीसे यह कहा जाता है कि संवत्सर के भीतर सभी ऋतुयें रहती हैं। सभी प्राणियों की आयु की गणना भी इन्हीं संवत्सरों के द्वारा होती है। अतएव यह भी कहा गया है कि जिसमें सभी प्राणी रहते हैं उस काल-विभाग का नाम संवत्सर है। वस्तुतः यदि मानव को संवत्सर का ज्ञान न होता तो वह न ऋतु विभाग को समझता और न प्राणियों के आयु की गणना ही कर पाता।

यह संवत्सर अर्थात् ऋतु-विभाग सूर्य के परिभ्रमण से सम्बन्धित है। सूर्य के परिभ्रमण के विषय में मतभेद है। आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। किन्तु प्राचीनों का यह मत है कि ‘सूर्य’ ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इसी से संस्कृत के कोशों में पृथ्वी के पर्यावाची शब्द ‘अचला’ एवं ‘स्थिरा’ पाये जाते हैं। भारतीय ज्योतिष में दोनों प्रकार के मत पाये जाते हैं। अस्तु, “सूर्य के परिभ्रमण” का अर्थ “पृथ्वी द्वारा सूर्य का परिभ्रमण” इस प्रकार का अर्थ करने से दोनों प्रकार के मतों का समन्वय हो जाता है। सूर्य संवत्सर अथवा काल का अधिदेवता कहा जाता है। क्योंकि यदि सूर्य न हो तो न संवत्सर रहे और न काल-विभाग। प्रकृत में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है।

“सप्त युजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।”

अर्थात् एकाकी विचरण करने वाले एक पहिये वाले रथ (अर्थात् सूर्य) को सात (वर्ण वाली) रश्मियाँ अपने साथ जोड़ती हैं। अकेला सब को व्याप्त करने वाला वह सूर्य सात रश्मियों से रस लेता हुआ अथवा सप्तर्षियों से स्तुति किया जाता हुआ जा रहा है। यह (ग्रीष्म, वर्षा, और हेमन्त इन) तीन नाभियों वाला कभी जीर्ण न होने वाला और किसी के सहारे न चलने वाला चक्र (संवत्सर) है। इसमें यह सब लोक स्थित हैं:- “संवत्सर-प्रधान उत्तरोऽध्वरः”^२ ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य का एवं उत्तरार्ध में संवत्सर का वर्णन किया गया है।

सौर और चान्द्र वर्ष के सदृश भारतीय ज्योतिष में बृहस्पति की गति के कारण एक बार्हस्पत्य वर्ष भी माना जाता है। दैनिक व्यवहार में इस वर्ष का कोई महत्व नहीं है। किन्तु संहिता-प्रकरण की दृष्टि से वर्ष के शुभाशुभ का निर्धारण करने में इस संवत्सर का विशेष उपयोग होता है। बार्हस्पत्य वर्षों के नाम निम्न प्रकार से हैं।

१. ऋग्वेद-२।२६।२

२. निरुक्त अ-४ पा० ४ ख-२६

१. प्रभव २. विभव ३. शुक्ल ४. प्रमोद ५. प्रजापति ६. अंगिरा ७. श्रीमुख
८. भाव ९. युवा १०. धाता ११. ईश्वर १२. बहुधान्य १३. प्रभाथी १४. विक्रम १५. वृष
१६. चित्रभानु १७. सुभानु १८. तारण १९. पार्थिव २०. व्यय २१. सर्वजित्
२२. सर्वधारी २३. विरोधी २४. विकृतः २५. खर २६. नन्दन २७. विजय २८. जय
२९. मन्मथ ३०. दुर्मुख ३१. हेमलम्ब ३२. विकारी ३३. शर्वरी ३४. प्लव ३५. शुभकृत्
३६. शोभन ३७. क्रोधी ३८. विश्वावसु ३९. पराभव ४०. प्लवंग ४१. कीलक ४२. सौम्य
४३. साधारण ४४. विरोधकृत् ४५. परिधावी ४६. प्रमाथी ४७. आनन्दो ४८. राक्षस
४९. नल ५०. पिंगल ५१. कालयुक्त ५२. सिद्धार्थ ५३. रौद्र ५४. दुर्मति ५५. दुन्दुभि
५६. रुधिरोग्दगारी ५७. रक्ताक्ष ५८. क्रोधन एवं ५९. क्षय।

इनकी गणना प्राचीन काल में 'प्रभव' से न होकर 'विजय' संवत्सर से होती थी।

अयन

सूर्य की गति को अयन कहते हैं। "अयने द्वे गतिरुदग् दक्षिणार्कस्य" (अमरकोश, काल वर्ग १३)। "इण्" धातु से भावार्थक ल्युट् प्रत्यय करने से "अयन" शब्द बनता है। इस का अर्थ "गति" होता है। अयन दो होते हैं:- दक्षिणायन और उत्तरायण। कर्क संक्रान्ति से लेकर धनु संक्रान्ति तक अर्थात् सौर श्रावण से सौर पौष ये छः महीने होते हैं। इसी प्रकार मकर संक्रान्ति से मिथुन संक्रान्ति पर्यन्त उत्तरायण होता है। इसमें माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छः मास होते हैं। "तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण"।

'अयन' शब्द का अर्थ "गति और मार्ग" होता है। सूर्य सदा पूर्व दिशा के मध्य बिन्दु पर नहीं रहता। अपितु चैत्र (मेष संक्रान्ति) से श्रावण (कर्क संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के दक्षिण भाग से उत्तर की ओर आता है। इसी प्रकार श्रावण से कार्तिक (तुला संक्रान्ति) के आरम्भ तक लौटकर पूर्व के मध्य-बिन्दु पर आ जाता है। कार्तिक से माघ (मकर संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के उत्तर भाग से दक्षिण में बढ़ता है। पुनः वहाँ से लौटकर वैशाख (मेष संक्रान्ति) के आरम्भ में पूर्व के मध्य बिन्दु पर आ जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रावण से लेकर पौष तक जिन मासों में उत्तर के अन्तिम छोर से दक्षिण के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ महीनों का दक्षिणायन और माघ से आषाढ़ तक जिन महीनों में दक्षिण के अन्तिम छोर से उत्तर के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ मासों को उत्तरायण कहते हैं।

उत्तरायण में दिन बड़ा होता है। अतः समय प्रकाश की अधिकता रहती है। दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होने से अन्धकार की अधिकता रहती है। शास्त्रों में प्रकाश को

देव तत्त्व और अन्धकार को असुरतत्त्व कहा गया है। अतः उत्तरायण को देवताओं का दिन और दक्षिणायन को देवताओं की रात्रि मानते हैं।

ऋतु

संवत्सर के प्रकरण में यह लिखा गया है कि ऋतुओं के परिवर्तन का नाम ही संवत्सर है। तात्पर्य यह कि ऋतुएं ही संवत्सर या काल का परिज्ञान कराती हैं। वस्तुतः ऋतुओं का ज्ञान न होने पर समय या काल का परिज्ञान असम्भव प्राय होता है। अतः यह कहना सर्वथा यथार्थ है कि ऋतुएँ ही समय का स्वरूप अथवा लक्षण हैं।

'ऋतु' शब्द "ऋ गतौ" धातु से निष्पन्न है। अमरकोश के टीकाकार क्षीर स्वामी ने लिखा है "इयर्ति ऋतु" एवं पाणिनि के उणादि प्रकरण के अनुसार "अर्तेश्च तुः (१-७१)" इस प्रकार ऋतु शब्द की निष्पत्ति होती है।

"ऋग्वेद के "त्रिनाभिचक्रं (२-३-१४)" इस अंश की व्याख्या निरुक्त में है। "ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति" अर्थात् सवत्सर में तीन ऋतुएं ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त होती हैं। वस्तुतः ऋतुएं तीन ही होती हैं। कालान्तर में इन तीनों के दो-दो विभाग होकर छः ऋतुएं मानी गयीं। यथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त एवं शिशिर। वेदों में कहीं-कहीं पाँच ऋतुएं भी मानी गयी हैं। यथा "पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने" इति पञ्चर्तुतया। यथा "पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम्। हेमन्तशिशिरयोः समासेन"। "पञ्च शारदीयेन यजेत। पञ्च वा ऋतवः, संवत्सर"। पाँच ऋतुओं की गणना में हेमन्त एवं शिशिर नामक ऋतुओं का संयुक्त नाम हेमन्त माना गया है। किन्तु इन दोनों ऋतुओं से लक्षित होने वाली विशेषताओं के कारण दोनों की पृथक् गणना की जाने लगी।

चैत्र और वैशाख इन दो महीनों को वसन्त, ज्येष्ठ आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण, भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्तिक को शरद, मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त एवं माघ फाल्गुन को शिशिर कहते हैं। शास्त्रों में ऋतु के अनुसार ही वस्तुओं का परिणाम बताया गया है। प्रत्येक प्राणी, वृक्ष, लता इत्यादि का विकास ऋतु के अनुसार ही होता है। अस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ऋतुओं को काल का लक्षण कहा जाना यथार्थ प्रतीत होता है। वेदों में चन्द्रमा को ऋतुओं का विधाता (निर्माणकर्ता) कहा गया है।

पूर्वापरं चरतो माययैतो शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।

विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः॥^१

उपर्युक्त ऋचा के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा दोनों ऋतुओं के विधाता हैं। वस्तुतः चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। अतः चन्द्रमा की गति के अनुसार पृथ्वी को प्रतिदिन सोमरस

समानरूप से प्राप्त होता रहता है किन्तु सूर्य का प्रभाव पृथ्वी पर सदा समान नहीं पड़ता। उत्तरायण में सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सीधी पड़ने से सोम के प्रभाव को क्रमशः कम करती है। अतः उष्णता की वृद्धि होती जाती है। उष्णता एवं शीत के इस न्यूनाधिक्य के कारण ही ऋतुयें बनती हैं।

जब हम एक वर्ष में तीन ऋतुओं को ही ग्रहण करते हैं तब एक-एक ऋतु का एक-एक चातुर्मास्य होता है। फाल्गुन से ज्येष्ठ तक चार महीनों की ग्रीष्म ऋतु, आषाढ से आश्विन तक वर्षा ऋतु तथा कार्तिक से माघ तक हेमन्त ऋतु होती हैं। जिस ऋतु में सूर्य की किरणें रसों को ग्रसित करती है उसे ग्रीष्म कहते हैं। जब मेघ बरसते हैं उस काल को वर्षा कहते हैं। जिस ऋतु में हिम (शीत अथवा बर्फ) रहता है उसे हेमन्त कहते हैं।

ऋतुओं के नामों की सार्थकता

वसन्त

‘मधु’ एवं ‘माधव’ ये दोनों ही शब्द मधु से निष्पन्न हैं। ‘मधु’ का अर्थ होता है एक प्रकार का रस। यह वृक्ष, लता तथा प्राणियों को मत्त करता है। इस रस की जिस ऋतु में प्राप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं। अतएव यह देखा जाता है कि इस ऋतु में वृष्टि के बिना ही वृक्ष, लतादि पुष्पित होते हैं एवं प्राणियों में मदन-विकार होता है। अतएव क्षीर स्वामी ने कहा है “वसन्त्यस्मिन् सुखम्” अर्थात् जिसमें प्राणी सुख से रहते हैं। निष्कर्ष यह कि जिस ऋतु में सर्वत्र आनन्द एवं माधुर्य की व्याप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं।

ग्रीष्म

“शुक्रः शोचते। शुचिः शोचतेर्ज्वलित कर्मणः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘शुक्र’ व शुचि’ शब्द “शुच्” धातु से निष्पन्न हैं। शुच्’ का अर्थ है जलना या सुखाना। अस्तु जिस ऋतु में पृथ्वी का रस (जल) सूखता या जलता है उस ऋतु का नाम “ग्रीष्म” है। अतः यह देखा जाता है कि ग्रीष्म ऋतु में वसन्त के उत्पन्न फल, पुष्प आदि में जल के आधिक्य से जो कोमलता होती है उसे त्याग कर वे परिपक्व हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी भी शुष्क हो जाती है। अतएव ग्रीष्म उस ऋतु को कहते हैं जो पदार्थों को सुखाती एवं परिपक्व करती है।

वर्षा

“नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा मन एव स्याद्विपरीतः। न भातीति वा” अर्थात् नभ का अर्थ आदित्य होता है। (सूर्य) जब पूर्ण

रूप से प्रकाशित नहीं होता उस काल को ‘नभस्’ कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थ के द्वारा ‘रस’ अर्थात् जल पहुँचाया जाता है अथवा जो प्रकाश को अवरुद्ध करता है उस तत्त्व का नभस् है। जिस ऋतु में प्रकाश का आच्छादक तत्त्व प्रधान रहता है उस ऋतु को वर्षा ऋतु कहते हैं। अभिप्राय यह कि आठ महीने तक जो जल सूर्य की किरणों से वाष्प बनकर आकाश में अव्यक्त रूप से स्थित रहा उसे व्यक्त रूप में लाकर जल का स्वरूप देने वाले तत्त्व अर्थात् सूर्य को आच्छादित करने वाले तत्त्व को ‘नभस्’ कहते हैं। यह तत्त्व जिस काल में क्रियाशील रहता है उस ऋतु का नाम वर्षा है। यथा:-

“अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।

स्वर्गोभिमोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥”

शरद्

“सा नो मन्त्रेषमूर्ज दधाना” इस ऋगंश की व्याख्या में कहा गया है “इषम् अन्नम् ऊर्जम् पयोधृतादि रूपं रसं च”। जिस ऋतु में अन्न और घृत एवं दुग्ध इत्यादि रस का परिपाक एवं प्राप्ति होती है उस ऋतु को शरद् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि जिस ऋतु में औषधियाँ (फसलें) पक जाती हैं अथवा जल निर्मल हो जाता है उसे शरद् ऋतु कहते हैं। “शारच्छता अस्यामोषधयो भवन्ति, शीणां आप इति।”

हेमन्त

“सहस्” शब्द का अर्थ निघण्टु में बल किया गया है। क्योंकि सहन करना प्रकारान्तर से बल का कार्य है। ‘सहाः’ और ‘सहस्य’ शब्द इसी ‘सहस्’ शब्द से बने हैं। तात्पर्य यह कि जिस ऋतु में अन्न-पानादि के उपयोग से बल की वृद्धि होती है उस ऋतु को हेमन्त कहते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि अन्नपानादि अन्य ऋतुओं की अपेक्षा हेमन्त में अधिक बलप्रद होते हैं एवं प्राणियों की कार्य क्षमता भी हेमन्त में अधिक हो जाती है।

शिशिर

“शिशिरं शृणारोः शम्नातेर्वा” “तपस्” शब्द “तप सन्तापे” धातु से बना है। अभिप्राय यह कि जिस ऋतु में उष्णता की वृद्धि होने से वृक्षादि के पत्रादि पक कर गिरते हैं उसे शिशिर कहते हैं। अस्तु “शीर्यन्ते पर्णानि अस्मिन्निति शिशिरः” यह भी व्युत्पत्ति की गयी है।

१. श्रीमद्भागवत १०/२०/५, २. ऋ. ६/७/५, ३. निरुक्त ४/४/२५, ४. निघण्टु २/६/१६

५. निरुक्त १/३/१०.

निष्कर्ष यह कि काल अथवा समय के कारण वर्ष में जो विभिन्न परिणाम भिन्न-भिन्न अन्तराल पर दिखलायी पड़ते हैं उसका कारण ऋतु नामक काल का अवयव ही होता है। ये परिणाम जब अपना रूप दिखलाकर अपनी पुनरावृत्ति करते हैं तब सब ऋतुएँ समाप्त हो जाती हैं और नवीन संवत्सर का आरम्भ होता है। अतः काल के स्वरूप को यथार्थतः प्रकट करने वाली ऋतुयें ही होती हैं। अतएव भारतीय व्रतोत्सवों में ऋतुओं को प्रधानता प्राप्त है।

मास

‘मास’ शब्द का अर्थ होता है “चन्द्रसम्बन्धी”। अमरकोश के टीकाकार श्री क्षीरस्वामी ने कहा है “माश्चन्द्रः तस्यायं मासः” अर्थात् मा (चन्द्र) का जो हो उसे “मास” कहते हैं। चन्द्रमा से ही मास का ज्ञान होता है एवं चान्द्रमास ही मुख्य हैं। यही कारण है कि मासों के चैत्रादि प्रचलित नाम पूर्णिमा को जिस नक्षत्र पर चन्द्रमा की स्थिति रहती है उसी के अनुसार पड़ा है। अमरकोश के निम्न श्लोक से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है।

“पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा।

नाम्ना स पौषो माघाद्याश्वैवमेकादशापरे॥

अर्थात् जिस पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर रहता है उस पूर्णिमा का नाम पौषी है एवं वह पूर्णिमा जिस मास में हो उसे “पौष” कहते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र “सास्मिन् पौर्णमासीति (४/२/२१) से “पौषी” से “अण्” प्रत्यय होकर “पौष” शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार माघ इत्यादि अन्य ग्यारह मास भी होते हैं। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि:-

- चैत्र-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “चित्रा नक्षत्र” पर स्थित हो।
- वैशाख-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “विशाखा नक्षत्र” पर हो।
- ज्येष्ठ-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “ज्येष्ठा नक्षत्र” पर हो।
- आषाढ़-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “आषाढ़ा नक्षत्र” पर हो।
- श्रावण-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “श्रवण नक्षत्र” पर हो।
- भाद्रपद-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “भाद्रपद नक्षत्र” पर हो।
- आश्विन-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “अश्विनी नक्षत्र” पर स्थित हो।

- कार्तिक-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “कृत्तिका नक्षत्र” पर स्थित हो।
- मार्गशीर्ष-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “मृगशिरा नक्षत्र” पर स्थित हो।
- पौष-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “पुष्य नक्षत्र” पर स्थित हो।
- माघ-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “मघा नक्षत्र” पर स्थित हो।
- फाल्गुन-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा “उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र” पर स्थित हो।

मासों का उपर्युक्त विवरण पूर्णिमा के दिन विभिन्न नक्षत्रों पर चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार है। किन्तु, वैदिक-विज्ञान के अनुसार मासों का विवरण किञ्चित् भिन्न प्रकार से होता है। यथा तैत्तिरीय संहिता^१ में इन नामों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है।

“मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि स सर्पोस्य हस्पत्याय त्वा॥”

अर्थात् है सोम। उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत तुम हो, माधव हो, शुक्र हो, शुचि हो, नभ हो, नभस्य हो, ऊर्ज हो, सह हो, सहस्य हो, तप हो एवं तपस्य हो तथा संसर्प और अंहस्पति हो। इस मन्त्र में मधु आदि बारह मासों के अतिरिक्त अधिमास के लिये संसर्प तथा क्षयमास के लिये अंहस्पति नाम का प्रयोग हुआ है। अस्तु वैदिक नामों के अनुसार चैत्रादि मासों का विवरण निम्न प्रकार से होगा। यथा:-

- चैत्र: इस महीने का नाम ‘मधु’ है। इस मास में मधु रस की उत्पत्ति होती है जिससे वृक्षादि पुष्प एवं फल से युक्त हो जाते हैं। मधु मक्खियाँ इस मास से प्रायः मधु सञ्चय करती देखी जाती हैं।
- वैशाख: इस मास को ‘माधव’ कहते हैं। क्योंकि इस समय चैत्र मास में उत्पन्न होने वाले मधुरस का परिपाक होता है।
- ज्येष्ठ: इस महीने का नाम शुक्र है। क्योंकि इस मास में सूर्य की उष्णता बढ़ती है।
- आषाढ़: इस मास का नाम “शुचि” है। इस मास में सूर्य के ताप से उत्पन्न परिणाम की प्रतीति होती है। इस काल में आम्रादि फल परिपक्व हो जाते हैं। तथा उष्णता की अधिकता के फलस्वरूप वृष्टि के आरम्भ की सूचना प्राप्त होती है।
- श्रावण : इस महीने का नाम ‘नभस्’ है। इस मास में जल को रोकने वाले तत्वों का विनाश होता है।

- **भाद्रपद** : इस मास का नाम 'नभस्य' है। इस समय जल को अवरुद्ध करने वाले तत्वों के विनाश का परिणाम प्रतीत होता है।
- **आश्विन**- इस महीने का नाम 'इष' है क्योंकि इस मास में नवीन अन्न परिपक्व होता है।
- **कार्तिक**-इस मास का नाम "ऊर्जा" हैं। इस समय अन्न-तृण आदि से गौ इत्यादि प्राणियों में घृत-दुग्ध आदि रसों का परिपाक होता है।
- **मार्गशीर्ष**-इस मास का नाम "सहस्र" है। इस समय बल की वृद्धि होती है।
- **पौष**-इस मास का नाम "सहस्य" है। इस मास में प्राणियों का बल स्थिर होता है।
- **माघ**-इस मास का नाम 'तपस्' है। इस महीने में ताप की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। अतः शीतकालीन सस्य का परिपाक प्रारम्भ होता है।
- **फाल्गुन**- इस महीने का नाम 'तपस्य' है। क्योंकि इस मास में 'जौ, गेहूँ, चना आदि का परिपाक होता है।
- **मधु**-माधव आदि नामों के अतिरिक्त पूर्णिमाओं के आधार पर प्रचलित "चैत्रादि" महीनों के नामों का भी उल्लेख वेदों में हुआ है।

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता^१ में फाल्गुनी पूर्णमास और चित्रापूर्णमास का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण^२, शतपथ ब्राह्मण^३ में भी 'फाल्गुनी पौर्णमासी का वर्णन है। इसी प्रकार सांख्यायन ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण में फाल्गुनी, रौहिणी (ज्येष्ठी) और पौषी पूर्णमासी का उल्लेख है। कौषीतकि ब्राह्मण^४ में तैषस्य (पौषस्य) एवं माघस्य तथा पञ्चविंश ब्राह्मण^५ में फाल्गुन एवं गृह्य सूत्र^६ में श्रावण्याम् पौर्णमास्याम् और मार्गशीर्ष्याम् चतुर्दश्याम् तथा पारस्कर गृह्य सूत्र^७ में 'मार्गशीर्ष्याम् पौर्णमास्याम्' का उल्लेख हुआ है। वैदिक-संहिताओं एवं गृह्य सूत्रों के सदृश ही महाभारत, पुराण एवं मनुस्मृत्यादि में भी यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी आजकल की तरह चैत्रादि मासों का प्रचलन था।

पक्ष-विचार

एक मास में दो पक्ष होते हैं। शुक्लपक्ष एवं कृष्ण पक्ष। प्रत्येक पन्द्रह दिनों (तिथियों) का होता है। शुक्ल पक्ष को पूर्वपक्ष एवं कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष कहते हैं। यद्यपि महीने के दोनों पक्षों में प्रकाश और अन्धकार समान ही रहता है। किन्तु जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि के कारण प्रतिदिन प्रकाश की वृद्धि होती है उस पक्ष को शुक्ल पक्ष एवं

जिस पक्ष में चन्द्रमा की कला में हास होने से अन्धकार की वृद्धि होती है उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। अमावस्या के बाद पूर्णिमा के १५ दिनों का शुक्ल पक्ष एवं पूर्णिमा के बाद अमावस्या तक के १५ दिनों का कृष्ण पक्ष होता है।

तिथि-विचार

भारतवर्ष में दो प्रकार की तिथियाँ प्रचलित हैं। सौर तिथि एवं चान्द्र तिथि। सूर्य की गति के अनुसार मान्य तिथि को सौर तिथि तथा चन्द्रगति के अनुसार मान्य तिथि को चान्द्र तिथि कहते हैं।

सौर-तिथि: सौर तिथि दो प्रकार से मानी जाती है। एक प्रकार यह है कि जिस-जिस दिन सूर्य की संक्रान्ति लगती है उस दिन को प्रथम तिथि मानी जाय। दूसरा प्रकार यह है कि संक्रान्ति के दूसरे दिन से प्रथम तिथि मानी जाय। बंगाल एवं पञ्जाब में इन तिथियों का प्रयोग विशेष रूप से होता है। अन्यत्र भी सौर तिथि के नाम से इनका प्रचलन है। किन्तु, भारत में प्रचलित व्रतों एवं उत्सवादि में इन तिथियों का प्रयोग प्रायः कम ही होता है।

चान्द्र तिथि-भारत के धार्मिक कर्मों में विशेषरूप से चान्द्र तिथियों का ही प्रयोग होता है। इन तिथियों का नाम क्रमशः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं कृष्ण पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को अमावस्या तथा शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को पूर्णिमा कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा जिस दिन एक बिन्दु पर आ जाते हैं उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी ने कहा है "अमा सह सवतोऽस्यां चन्द्रार्कौ"। इसी प्रकार जिस तिथि को सूर्य एवं चन्द्रमा परस्पर आमने-सामने रहते हैं, उस तिथि को पूर्णिमा या पौर्णमासी कहते हैं। सामान्यतः अमावस्या या पूर्णिमा में पन्द्रह दिन का अन्तर रहना चाहिए। किन्तु, प्रत्येक तिथि एक दिन-रात अर्थात् २४ घण्टे अथवा ६० घटी में समाप्त नहीं होती। अतएव अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या कभी १५ दिनों के अन्तर पर कभी १४ दिनों, कभी १६ दिनों अथवा कभी १३ दिनों के अन्तर पर आती हैं।

इस अन्तर का कारण यह है कि तिथियाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की गति से सम्बन्धित होती है। अतः जब सूर्य एवं चन्द्रमा की गति का अन्तर अधिक रहता है तब चन्द्रमा १५ दिनों की अपेक्षा १४ दिनों में ही सूर्य के सामने से साथ अथवा साथ से सामने आ जाता है। यदि गति का अन्तर मन्द रहता है तो १६ दिन लग जाते हैं। इसे ही तिथियों की क्षय-वृद्धि अर्थात् घटना और बढ़ना कहा जाता है।

स्पष्टार्थ यह कि अमावस्या के दिन चन्द्रमा और सूर्य एक राशि पर समान अंशादि में रहते हैं। अतएव अमावस्या को सूर्येन्दु संगम भी कहा जाता है।

१. ६/४/८, २. १/१/२/८, ३. २/६, ४. १६/२/३, ५. ५/६/६, ६. २/१/१, ७. २/३/१
८. ३/१२

चन्द्रमा को पुनः उसी स्थान पर पहुँचने में प्रायः ३६ दिन लगते हैं। प्रायः इतने ही दिनों में सूर्य अपनी एक राशि समाप्त कर पाता है। इस प्रकार सूर्य के दूसरी राशि पर चन्द्रमा पुनः सूर्य के साथ सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ यदि चैत्र मास की अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा मीन राशि पर थे तो वैशाख की अमावस्या के दिन उन दोनों को मेष राशि पर होना चाहिये। इस प्रकार सूर्य से पुनः मिलने के लिये चन्द्रमा को तेरह राशियों का चक्कर लगाना पड़ेगा। यह चक्कर उपर्युक्त प्रकार से ३० दिनों में पूर्ण होगा।

एक राशि में ३० अंश होते हैं। इस प्रकार अमावस्या से अमावस्या अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक चक्कर लगाने के लिये चन्द्रमा को $30 \times 12 = 360$ अर्थात् ३६० अंश चलना पड़ेगा। इन ३६० अंशों को यदि ३० तिथियों में विभाजित किया जाय तो एक तिथि में प्रायः १२ अंश होते हैं। अस्तु, सूर्य से चन्द्रमा के १२ अंश हटने को एक तिथि कहते हैं। यह १२ अंश जब कभी चन्द्रमा शीघ्र चलता है तो ५४ घटी में ही समाप्त हो जाता है। और जब चन्द्रमा की गति मन्द होती है तो उक्त १२ अंशों के समाप्त होने में ६५ घटी का समय लगता है। अर्थात् चन्द्रमा को सूर्य से १२ अंश आगे जाने में कभी २१ घण्टे या २२ घण्टे और कभी २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे लगते हैं। इसी हासवृद्धि को धर्मशास्त्र में “बाणवृद्धि रसक्षय” कहा गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब चन्द्रमा सूर्य से १२ अंश आगे बढ़ता है। तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा समाप्त होती है एवं २४ अंश आगे बढ़ने पर द्वितीया समाप्त होती है। इसी क्रम से दिन-रात की की जितनी घटियों पर प्रत्येक १२ अंश समाप्त होते रहते हैं तदनुसार ही प्रतिपदा एवं द्वितीयादि तिथियाँ क्रमशः समाप्त होती हैं।

तिथियों के क्षय-वृद्धि का क्रम

उपर्युक्त रीति से यदि चन्द्रमा शीघ्र चलता रहा और अपनी गति से दो-दो घण्टे कम किये तो १२ दिनों में २४ घण्टे कम होंगे। इस प्रकार एक अहोरात्र पूर्व ही अर्थात् बारहवें दिन ही चन्द्रमा की गति का (१२ अंशों वाला) तेरहवाँ भाग समाप्त हो जायेगा। इसे ही त्रयोदशी का क्षय कहेंगे। क्योंकि साधारण गणना के अनुसार तो प्रत्येक अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में तेरहवाँ अंश आना चाहिये। परन्तु जब यह देखा जाता है कि तेरहवें अहोरात्र में तेरहवें भाग का कोई स्थान नहीं है अपितु, उस दिन प्रातः काल से ही चौदहवाँ भाग आरम्भ हो गया है तो इस प्रकार बारहवें अहोरात्र में ही तेरहवें भाग के समाप्त हो जाने से त्रयोदशी का क्षय होना कहा जाता है।

इसी प्रकार यदि चन्द्रमा मन्दगति से चला और उसने १२ अंश वाला भाग २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे में समाप्त किया तो ये २-२ घण्टे बचते-बचते अपने यथासंख्य

अहोरात्र से आगे बढ़ जायेंगे। यदि १२-१२ अंशों का चतुर्थ भाग चौथे अहोरात्र में समाप्त न होकर पाँचवें अहोरात्र में कुछ शेष रह गया तो इसे चतुर्थी की वृद्धि कहा जायेगा, क्योंकि वह भाग चतुर्थ अहोरात्र में तो रहा ही तथा पञ्चम अहोरात्र के सूर्योदय के समय भी वही रहा। यह नियम है कि सूर्योदय के समय १२-१२ अंशों वाले भाग में से जिस संख्या का भाग चल रहा होगा वही उस दिन की तिथि होगी। अस्तु पहले सूर्योदय को भी चतुर्थी रही और दूसरे दिन के सूर्योदय के समय भी चतुर्थी रही। इस प्रकार दो चतुर्थियाँ हो जाती हैं। इसे ही तिथि की वृद्धि कहते हैं।

उपलब्ध वैदिक संहिताओं में तिथियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। किन्तु वेदों के ब्राह्मण भाग में तिथियों का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद ज्योतिष, यजुर्वेद ज्योतिष एवं अथर्ववेद ज्योतिष के वचनों में भी तिथियों का उल्लेख प्राप्त होता है-

“तृतीयां नवमीञ्चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम्

षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्यां समं वैतु॥३३॥

चतुर्दशीमुपवसथस्तथोदितचन्द्रमाः॥”

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।

वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्॥ ६०॥^१

वार-विचार

“वार” शब्द का अर्थ अवसर अर्थात् नियमानुसार प्राप्त समय होता है। तदनुसार “वार” शब्द का प्रकृत अर्थ यह होता है कि जो अहोरात्र (सूर्योदय से आरम्भ कर २४ घण्टे अथवा ६० घटी अर्थात् पुनः सूर्योदय होने तक) जिस ग्रह के लिये नियमानुसार प्राप्त होता है अर्थात् जो ग्रह जिस अहोरात्र का स्वामी है उसी ग्रह के नाम से वह अहोरात्र अभिहित होता है। उदाहरणार्थ जिस अहोरात्र का स्वामी रवि है वह रविवार एवं जिस अहोरात्र का स्वामी सोम है वह सोमवार इत्यादि होगा। यह खगोल में ग्रहों की स्थिति के अनुसार नहीं है।

इस असंगति का समाधान यह है कि खगोलीय क्रम के अनुसार ग्रहों की होराये होती हैं न कि पूर्ण अहोरात्र। प्रत्येक होरा ढाई घटी अर्थात् ६० मिनट की होती है। इस प्रकार एक अहोरात्र में २४ होराये होती हैं। इस क्रम में पहली होरा अहोरात्र के स्वामी की होती है बाद में उसी पूर्वोक्त खगोलीय क्रम के अनुसार क्रमशः निम्नवर्ती ग्रह की होरा आती हैं। उदाहरणार्थ यदि प्रथम होरा रवि की हुयी तो उस के निम्नवर्ती ग्रहों के अनुसार शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु मंगल की होराये होंगी। पचीसवें घण्टे में अर्थात् दूसरे दिन प्रातः काल

१. ऋग्वेद ज्योतिष, (भारतीय ज्योतिष), २. अथर्ववेद ज्योतिष (भारतीय ज्योतिष)

चन्द्र की होरा होगी। तदनुसार रविवार के दूसरे दिन चन्द्रमा की, तीसरे दिन मंगल की, चतुर्थ दिन बुध की, पञ्चम दिन गुरु की, छठवें शुक्र की एवं सातवें दिन पुनः रवि की होरा होगी।

निष्कर्ष यह कि प्रातःकाल जिस ग्रह की होरा होती है वही ग्रह उस अहोरात्र का स्वामी माना जाता है। अतः वह अहोरात्र उसी ग्रह का 'वार' माना जाता है। यहाँ पर शंका हो सकती है कि उपर्युक्त क्रम मानकर यदि ऊपर से चला जाय तो प्रथम दिन शनिवार होना चाहिये एवं यदि नीचे से चला जाय तो प्रथम वार सोमवार होना चाहिये। किन्तु व्यवहार में रविवार को ही प्रथम वार माना जाता है। इसका समाधान भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में निम्न प्रकार से दिया है-

“लंका नगर्यामुदयाच्च भानोस्तथैव वारो प्रथमो बभूव।

मधोः सितादेर्दिनमास-वर्ष-युगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः॥

अर्थात् लंका नगरी में सर्वप्रथम सूर्योदय रविवार को हुआ। अतः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से दिन, मास, वर्ष एवं युगादि की एक साथ प्रवृत्ति हुयी। निष्कर्ष यह कि काल गणना का आरम्भ ही रविवार से हुआ। अतः रविवार को ही प्रथम वार मानना युक्तिसंगत है।

यद्यपि ऋग्वेद ज्योतिष में वारों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु अथर्वज्योतिष में स्पष्ट रूप से वाराधिपों का उल्लेख किया गया है।

“आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।

भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपाः॥ ६३॥

अर्थात् आदित्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति भार्गव (शुक्र) एवं शनि ये क्रमशः वारों के स्वामी होते हैं।

नक्षत्र-विचार

नक्षत्र २७ हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा एवं रेवती। उत्तराषाढ़ा के चतुर्थ चरण एवं श्रवण के प्रथम चरण को मिलाकर अभिजित के नाम से अट्ठाइसवाँ नक्षत्र भी माना गया है। किन्तु व्यवहार में प्रायः सत्ताइस नक्षत्रों का ही उपयोग होता है। इसका उपयोग पञ्चशलाका चक्र, सप्तशलाका चक्रादि की गणना एवं कुछ अन्य कार्यों में ही होता है।

प्रत्येक ग्रह खगोल की परिधि में पूर्ण परिभ्रमण के बाद पुनः उसी स्थान पर आ जाता है जहाँ से वह चलता है। इस भ्रमण को एक भ्रमण कहा जाता है। इस प्रकार एक ग्रह

का एक अण्डाकार मार्ग बन जाता है। इसे ही उस ग्रह की कक्षा वृत्त कहते हैं। सूर्य के कक्षा वृत्त को क्रान्ति वृत्त कहते हैं तथा उसके बारह भागों का नाम मेषादि राशियाँ हैं। क्रान्ति वृत्त क्षेत्र में आने वाले तारा समूहों को २७ भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक खण्ड का मान $93^{\circ}.20'$ का माना जाता है। इस क्षेत्र में आने वालों तारों को समूह को एक नक्षत्र कहते हैं। उनके सर्वाधिक तेजस्वी तारा को योगतारा कहा जाता है तथा वही नक्षत्र का प्रधान विन्दु होता है जहाँ से उसकी गणना होती है।

पञ्चांगों में प्रतिदिन उल्लिखित नक्षत्र इन्हीं तारा समूहों के निकट चन्द्रमा की स्थिति को सूचित करते हैं। तात्पर्य यह कि जिस दिन चन्द्रमा जिस तारा समूह के निकट रहता है उस दिन वह उसी नक्षत्र पर स्थित माना जाता है।

ग्रहों के पूर्णवृत्त को सुविधानुसार अश्विनी आदि २७ तारा समूहों में विभक्त किया गया है। चन्द्रमा की गति के अनुसार क्रान्तिवृत्त का सत्ताइसवाँ भाग जितने समय में समाप्त होता है अर्थात् चन्द्रमा एक तारक-समूह से दूसरे तारक समूह तक जाता है उसे उस-उस नक्षत्र का भाग कहते हैं। यह भाग भी तिथि के अनुसार २४ घण्टे या ६० घटी में एवं कभी-कभी उससे अधिक या अल्प समय में चन्द्रमा पार करता है। इस प्रकार जब उक्त सत्ताइसों भाग समाप्त हो जाते हैं तब चन्द्रमा आकाश में पुनः उसी स्थान पर आ जाता है।

कालगणना की कुछ अन्य रीतियाँ

पूर्व में ब्राह्म दिन अर्थात् कल्प एवं युगादिके क्रमानुसार कालगणना का दिग्दर्शन हुआ है। किन्तु इनके अतिरिक्त ध्रुव नक्षत्र एवं सप्तर्षि-नक्षत्र के द्वारा भी काल गणना का उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-ऋग्वेद (१/२४/१०), (१०/८२/२ एवं १०/१०६/४) के मन्त्रों में सप्तर्षिमण्डल का विवरण है। अतएव यह माना जा सकता है कि वेदों में सप्तर्षियों के परिभ्रमण से भी कालगणना की जाती रही है। ऋग्वेद (१०/१४/११) में सौरमण्डल के विशालतम ग्रह बृहस्पति और शुक्र की अश्विनी संज्ञा होने के अतिरिक्त उन्हें यमगृह के दो श्वान कहा गया है।

पुराणों में भी अनेक स्थलों पर सप्तर्षि से कालगणना का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ वायु पुराण^१, ब्रह्माण्ड पुराण^२, मत्स्य पुराण^३, भागवतपुराण^४, एवं विष्णु पुराण^५ के अंशों को देखा जा सकता है।

पार्जितर के अनुसार एक-एक नक्षत्र पर सप्तर्षियों की स्थिति सौ-सौ वर्षों की मानी जाती है। इनका पूर्ण परिभ्रमण सात दिव्य वर्ष और छह दिव्य माहों का माना जाता है।

१. ६६/४१८-४२३, २. ३/७४/२२५-२३६, ३. २७२/३८-४३, ४. १२/२/२७-३१

५. ४/२४/१०५-११६.

यह अवधि मानव वर्षों में २६०० वर्षों के तुल्य हैं। किन्तु पुराणों में सप्तर्षि संवत्सर ३०३० वर्षों का बताया गया है। तीन सप्तर्षि संवत्सरों के व्यतीत होने पर एक क्रौञ्च अर्थात् श्रौव संवत्सर पूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि स्वायंभव मनु के पुत्र उत्तानपाद ने उत्कृष्ट तपस्या से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उसी समय क्रौञ्च संवत्सर (तीन सप्तर्षि संवत्सरों की पूर्ति होने पर) पूर्ण हुआ। अतएव उस संवत्सर को श्रौव संवत्सर कहा जाने लगा।

अथर्व ज्योतिष में तिथि, नक्षत्र, वार, करण, योग, तारा तथा चन्द्रमा के बलाबल का विचार करने का उल्लेख किया गया है।

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।

वाराश्चाष्टगुणाः प्रोक्ताः करणं षोडशान्वितम्॥६०॥

द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्ठिसमन्विता।

चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्॥६१॥

तदनुसार ही भारतीय पञ्चांगों में प्रतिदिन योग एवं करणों का विवरण दिया जाता है। योग सत्ताइस हैं। इनका नाम क्रमशः १. विष्कम्भ २. प्रीति ३. आयुष्मान् ४. सौभाग्य ५. शोभन ६. अतिगण्ड ७. सुकर्मा ८. धृति ९. शूल १०. गण्ड ११. वृद्धि १२. ध्रुव १३. व्याघात १४. हर्षण १५. वज्र १६. सिद्धि १७. व्यतीपात १८. वरीयान १९. परिघ २०. शिव २१. सिद्ध २२. साध्य २३. शुभ २४. शुक्ल २५. ब्रह्म २६. ऐन्द्र एवं २७. वैधृति हैं।

करण

तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं। करणों के नाम निम्न हैं। यथा:- १. बव २. बालव ३. कौलव ४. तैतिल ५. गर ६. वणिज ७. विष्टि ८. शकुनि ९. चतुष्पद १०. नाग ११. किंस्तुघ्न। इन करणों में प्रथम सात चरकरण एवं अन्तिम चार स्थिर करण कहे जाते हैं।

राशिवर्णन

क्रान्तिवृत्त के ३६० अंशों को तारा समूहों के आधार पर बारह भागों में विभक्त किया गया है। इन तारा समूहों को ही राशि कहते हैं। राशियों के नाम क्रमशः निम्न हैं। यथा:-

१. मेष २. वृष ३. मिथुन ४. कर्क ५. सिंह ६. कन्या ७. तुला ८. वृश्चिक ९. धनु १०. मकर ११. कुम्भ एवं १२. मीन।

वेद एवं वेदांग ज्योतिष में राशियों का नाम नहीं मिलता किन्तु पुराणों में राशियों के आधार पर शुभा-शुभत्व का निर्णय किया गया है।

ब्राह्म दिनादि के सदृश ही विष्णु एवं रुद्र के समय का वर्णन भी ज्योतिष की गणना में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है।

“चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते।

पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिकास्मृता॥

विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते।

रुद्रस्यार्बुदसंख्याभिस्ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्॥”

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस प्रकार ब्रह्मा के सहस्र वर्षों के तुल्य विष्णु की एक घटी होती है। इस परिमाण से श्री विष्णु के बारह लाख वर्षों के बराबर रुद्र की आधी कला होती है तथा रुद्र के एक अरब वर्षों के बराबर अक्षर ब्रह्म का दिवस होता है।



ग्रहण चन्द्र सूर्य पृथ्वी

डॉ. पी.वी.वी. सुब्रह्मण्यम्

ग्रहणसाधनप्रयोजन

ग्रहण खगोलीयपिण्डों के भ्रमण वश आकाश में उत्पन्न होने वाली एक अद्भुत घटना है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। भूकेन्द्र से इन कक्षाओं की दूरी भी विलक्षण है। अर्थात् ग्रह कक्षाओं का केन्द्र बिन्दु पृथ्वी पर नहीं है। इसलिए एक तरफ वृत्त की परिधि के अत्यन्त सन्निकट तथा दूसरी ओर अत्यन्त दूरी पर है। ये सभी ग्रह एक दूसरे से ऊर्ध्वाधः स्थित कक्षाओं में पूर्वाभिमुख भ्रमण करते हैं। यद्यपि इन ग्रहों की योजनात्मिका गति समान है तथापि भूकेन्द्र से विलक्षण अन्तरालों में स्थित होने के कारण इनकी अंशात्मक या कोणीय गति भी विलक्षण है। अतः ये ग्रह एक दूसरे से पूर्वापरान्तर से भी अन्तरित रहते हैं।

सन्दर्भानुसार यहां रैखिक (परिधिगत, योजनात्मक या मीलात्मक) गति एवं कोणीय गति का सामान्य विचार प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विषय का ज्ञान सुगम होगा। भूकेन्द्र से ग्रहभ्रमण मार्गों की या कक्षाओं की दूरी भिन्न-भिन्न है यह पूर्व में ही स्पष्ट किया गया है। दूरी में भिन्नता के कारण उन कक्षाओं के प्रमाणों में भी भिन्नता है। कक्षाओं की परिधि और व्यास का प्रमाण ऊर्ध्वोर्ध्व क्रम से बढ़ता जाता है। भूकेन्द्र से दूरी में भिन्नता होने पर भी ये सभी ग्रह आकाश में एक ही तल पर दृश्य होते हैं। जिसे दृश्य क्षितिज कहा जाता है। वे दृश्य ग्रह ही अभीष्ट कार्य सम्पादन हेतु उपर्युक्त स्पष्ट ग्रह माने जाते हैं। जब दृश्यमान ग्रहों की स्थिति एक ही है तो उनके भिन्न दूरी का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु कक्षा भेद से दूरी के कारण दृश्यमान ग्रह की गति में अन्तर तो होता ही है। दृश्यमानस्थिति वास्तव स्थिति से अलग होने के कारण वास्तविक ग्रहों की अपनी अपनी कक्षाओं में जो गति होती है वह ग्रहसाधन हेतु निरुपयुक्त है। ग्रहों की स्व कक्षा गति के कारण दृश्य (स्पष्ट) ग्रहों के स्थान में जो अन्तर आता है वही ग्रह की गति मान्य होती है। अर्थात् ग्रह अपने कक्षा में आगे बढ़ते हुये दृश्यमान ग्रहबिम्ब के स्थान में जो कोण उत्पन्न करता है वही ग्रह की वास्तव गति है। और इस गति से ग्रह जो राश्यादि स्थान प्राप्त करता है वही कालसाधन हेतु या कार्यसम्पादन हेतु उपयुज्यमान स्पष्ट ग्रह है। ग्रह जहां दृष्टिपथ में आता है उसे राशिचक्र कक्षावृत्त या काल्पनिक दृग्वृत्त भी कहते हैं। प्रथम पौरुष सिद्धान्त ग्रन्थकार आर्यभट्ट के अनुसार वही काल्पनिक दृग्वृत्त है जहाँ एक स्वस्थ पुरुष आकाशस्थ समस्त ज्योतिषिण्डों को उनके ऊपर नीचे की अन्तर के बावजूद एक स्थान में देखता है। अतः ग्रहों की अपने अपने कक्षाओं की गति के अपेक्षा उनके चलने से भूकेन्द्र में उत्पन्न होने वाले कोण ही महत्वपूर्ण होते हैं जिसे हम कोणीयगति कहते हैं।

भूकेन्द्र से ग्रहों की दूरी भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके कक्षाओं का प्रमाण भी भिन्न-भिन्न होता है। पृथ्वी से जैसे-जैसे ग्रह की दूरी बढ़ती है वैसे-वैसे ग्रह कक्षा का प्रमाण भी बढ़ता जाता है। जिस ग्रह की कक्षा बड़ी होती है उसे भोगने के लिये उस ग्रह को अधिक समय की आवश्यकता होती है। जिसका ग्रह की कक्षा का प्रमाण कम होता है वह अल्प समय में ही अपने कक्षा का भोग कर लेता है। यही ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने का मुख्य कारण है।

ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने के कारण, ग्रहकक्षा में उच्च पात आदि कालमूर्तियों के कारण स्पष्टग्रहसाधन जटिल होता है। उच्च पातादि के कारण स्पष्टग्रहसाधन हेतु अनेक उपकरणों का साधन करना पड़ता है। जैसे त्रैराशिक से मध्यमग्रह, वेध एवं गणित के माध्यम से मन्द एवं शीघ्रपरिधि, वेध से अन्त्यफलज्या आदि। इनके साधन में स्थानवश अथवा उपयुज्यमान वेधयन्त्रवश, अथवा प्रक्रिया की स्थूलता के कारण इनकी सहायता से साधित ग्रह शास्त्रोक्त स्पष्टग्रहलक्षण से रहित हो सकता है। शास्त्रोक्त स्पष्टग्रह का लक्षण है दृग्गणितैक्य होना। अर्थात् गणितागत ग्रह एवं वेधादिना साधित ग्रह में दृक्तुल्यता या एकरूपता होना अनिवार्य है तभी वह स्पष्ट ग्रह कहा जाता है। उसी स्पष्टग्रह के ऊपर लग्न और लग्न के ऊपर ज्योतिषशास्त्र का फल निर्भर होता है। यात्रा विवाहोत्सवजातकादि कार्यों का सम्पादन भी स्पष्टग्रह से ही हो सकता है।

उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि प्रयोग में लेने से पहले साधित स्पष्टग्रहों की प्रामाणिकता सिद्ध होनी चाहिये। अतः साधित ग्रहों को उपपन्न या सिद्ध करने हेतु प्रत्यक्षगोचर सूर्य और चन्द्र का प्रयोग किया जाता है। समय समय पर सूर्य और चन्द्र के कारण उत्पन्न होने वाला खगोलीय दृग्विषय के अतिरिक्त इस कार्य में सहायक और कुछ भी प्राप्त नहीं है। ये खगोलीय दृग्विषय शास्त्रज्ञ एवं शास्त्रज्ञान से रहित सामान्य जन के लिये भी अनुभव योग्य होता है। इसी विषय को लगधाचार्य का यह वचन स्पष्ट करता है कि 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्राकौ यत्र साक्षिणौ'।

संहितास्कन्ध के अनुसार भी इन ग्रहणों का साधन आवश्यक है। जहाँ निरवशेष शास्त्रविषय का विचार होता है और जहाँ समष्टि रूप से जनकल्याण हेतु खगोलीय घटनाओं के आधार पर शुभाशुभ प्रगट किया जाता है वह संहितास्कन्ध है। यह त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषशास्त्र का एक मुख्य और प्राचीन स्कन्ध है। ग्रहण के समय में स्नान दान जपादि के महत्व का वर्णन इस स्कन्ध में उपलब्ध है। 'प्रकृतेर्वै परीत्यमुत्पातः' इस वचन में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध जो घटना घटती है उसे उत्पात कहते हैं और उत्पात जन कल्याण और लोककल्याण के विरुद्ध फल देने वाले होते हैं। अतः इस कारण से भी ग्रहण का साधन वा विचार करना अनिवार्य है।

(२) ग्रहयुद्ध

ग्रहों में ऊपर नीचे का अन्तर रहने पर भी जब ये राशिवृत्त में अथवा दृश्यमानवृत्त (दृश्यक्षितिज) में एक स्थान में आ जाते हैं तो उसे ग्रहयुद्ध कहते हैं। ग्रह बिम्बों के एक स्थान में आने पर होने वाले ये युद्ध भी भेद, उल्लेख, अंशुमर्दन और अस्त नाम से चार प्रकार का होता है। ग्रहों के बीच में युद्ध होना शुभ नहीं माना जाता है। यदि दोनों बिम्ब एक ही स्थान में आ जाते हैं अर्थात् दोनों बिम्ब मिलकर एक ही बिम्ब लगता है तो उसे भेद नामक युद्ध कहते हैं। यह भेद संज्ञक ग्रहयुद्ध अनावृष्टि और मित्र राजाओं में कलह उत्पन्न करता है। यदि दो बिम्बों के परिधियों का स्पर्श होता है तो उसे उल्लेख कहते हैं जो शस्त्रों से भय, मन्त्रियों में विरोध और दुर्भिक्ष का भय उत्पन्न करता है। आसन्नवर्ति ग्रहों के किरणों के एक दूसरे से मर्दन होने पर अंशुमर्दन नामक ग्रहयुद्ध होता है जो राजाओं में युद्ध उत्पन्न करता है और जनो को शस्त्र रोग और क्षुधा से पीड़ित करता है। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रहबिम्बों का एक स्थान में रहना, जिसे हम ग्रहयुद्ध कहते हैं, शुभफलदायी नहीं होता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भिन्न भिन्न प्रकृति के ये ग्रह एक दूसरे से मिलने पर विकृत हो जाते हैं। फलस्वरूप प्राणियों को इनके विपरीत फल भोगना पड़ता है। यह सर्वविदित है कि पृथ्वी को अधिक रूप से प्रभावित करने वाले दो ग्रह हैं। वे हैं सूर्य और चन्द्रमा। सूर्य किरणों के अभाव में कोई भी प्राणी इस पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकता है। अतः सभी प्राणियों को जीवित रखने के कारण तथा काल का नियमन करने के कारण सूर्य को काल की आत्मा माना जाता है। मन को प्रभावित करने वाला चन्द्रमा है। अतः दोनों का ग्रहण होने से उनका विकृत फल प्राप्त होने के कारण संहिता स्कन्ध में इनका होना अशुभ माना गया है। अतः ग्रहणकाल में ग्रस्त ग्रह के विमोचन हेतु, उत्पन्न होने वाले अशुभ को भंग करने हेतु स्नानादि की व्यवस्था की गई है। ज्योतिर्निबन्धकार के अनुसार स्पर्शकाल में स्नान, मध्यस्थिति में जप होम और सुरार्चन, मोक्ष के आसन्न स्थिति में दान और विमुक्ति में (स्नान) करना चाहिये। महर्षि पराशर के अनुसार ग्रहण समय में जन्मलिया जातक दरिद्र अथवा विकलांग आदि होता है। अतः आचार्य ग्रहण के कारण वा सूर्य चन्द्र राहु वा केतु के कारण उत्पन्न सकल अरिष्ट के शमन हेतु प्रयास करने का निर्देश स्वकीय ग्रन्थ बृहत्पराशरहोराशास्त्र में दिये हैं। इसी प्रकार की चर्चाएँ अन्य होरा ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। अतः शान्ति की कामना वाले या अपनी सन्तानों का शुभ चाहने वाले व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इस आपदा से बचना चाहते हैं। इस उद्देश्य से भी सूर्य एवं चन्द्रग्रहण का साधन आवश्यक हो जाता है। भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्त शिरोमणि में ग्रहणसाधनविधि के वर्णन के पहले ग्रहण प्रयोजन का इस प्रकार का वर्णन किया है “ग्रहणसमय में जप दान हवनादि बहुफल को देने वाला है ऐसे स्मृति और पुराण के वेत्ता कहते हैं, और चमत्कार भी है जो जानने की इच्छा को उत्पन्न करता है अतः मैं सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण को कह रहा हूँ।”

ग्रहणपरिचय

‘ग्रह उपादाने’ धातु से ग्रहण शब्द निष्पन्न है। ग्रहण का अर्थ स्वीकार करना है। आकाशीय ग्रहपिण्डों के द्वारा दूसरे ग्रहपिण्डों को स्वीकारना या अपने-अपने में समाहित करना (तात्कालिक रूप से) ही यहाँ ग्रहण कहा जाता है। ग्रहण के समय ग्रस्त बिम्ब भूमिस्थित द्रष्टा को नहीं दिखाई देता है। इस अदृश्य होने की स्थिति को ग्रहण कहते हैं। दूसरे ग्रहपिण्ड के द्वारा स्वीकार करने पर भी यदि ग्रहबिम्ब जनो को दिखाई देता है तो वह ग्रहण नहीं कहा जाता है। खगोलीयपिण्डों के स्थिति के अनुसार एवं पृथ्वी से उनकी दूरी के अनुसार दूसरे ग्रहों वा तदुत्पन्न छाया के द्वारा स्वीकार करने के बाद न दृश्य होने वाले वा अनुभव में न आने वाले ग्रहबिम्ब दो ही हैं। वे हैं सूर्य और चन्द्रमा। अतः ज्योतिष शास्त्र में सूर्य और चन्द्रमा के ही ग्रहण वर्णित है। यद्यपि ग्रहण की स्थिति प्रायः सभी ग्रहों के साथ होती है तथापि सामान्यदृष्टिगोचर होने के कारण सूर्य और चन्द्र के ही ग्रहण स्वीकार किये गये हैं। इसी प्रकार पृथ्वी का भी ग्रहण होता है। छादक चन्द्रमा छाद्य पृथ्वी को आच्छादित करने के कारण चन्द्रकक्षा के ऊपर स्थित लोगों को अथवा चन्द्रकक्षोपरि प्रदेश की स्थिति के अनुसार पृथ्वी का कुछ भाग अथवा पूरी पृथ्वी आच्छादित होती है जिसे पृथ्वीग्रहण कहते हैं। यह सत्य है कि पृथ्वी पर स्थित लोगों को यह ग्रहण दृश्य नहीं होता है।

ग्राह्य और ग्राहक

ग्रहण के समय में जो ग्रहबिम्ब ग्रहण का कारण होता है अथवा जो दूसरे बिम्ब को आच्छादित करता है उसे ग्राहक या छादक और ग्रस्त होने वाले बिम्ब को ग्राह्य अथवा छाद्य बिम्ब कहते हैं। सूर्यग्रहण में ग्राहक चन्द्रमा और ग्राह्य सूर्य होते हैं। सूर्य बिम्ब को चन्द्रबिम्ब मेघ की तरह आच्छादित कर देता है। चन्द्रग्रहण में ग्राह्य चन्द्र ग्राहक भूभा में पूर्वाभिमुख प्रवेश कर लेता है। स्वाभाविक बात यह है कि ग्राहक के द्वारा ग्राह्य को स्वीकार करने के लिये दोनों बिम्बों को एक स्थान में रहना अनिवार्य होता है। उस प्रकार दोनों बिम्बों के एक स्थान में रहने वाले समय में ही ग्रहण सम्भव हो सकता है।

ग्रहणसम्भवकाल

सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा की कक्षा पृथ्वी के समीप है। चन्द्रमा का कोणीय वेग भी सूर्य की अपेक्षा अधिक है। सूर्य और चन्द्रमा के गति का दैनिक अन्तर १२ अंश का होता है जिस को एक चान्द्र दिन कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के १८० अंश के अन्तर में दोनों ग्रह एक सरलरेखा के दो अन्तिम बिन्दुपर रहते हैं या आमने सामने रहते हैं। यह स्थिति चन्द्र के पन्द्रहवें दिन

के अन्त में सम्भव होती है। इस पन्द्रहवे दिन को पूर्णिमा कहते हैं। सूर्य बिम्ब के प्रकाश के कारण सूर्य के विरुद्ध दिशा में पृथ्वी की सूच्याकार छाया बनती है जिसको कुभा भूभा इत्यादि नामों से व्यवहार करते हैं। सूर्य बिम्ब की पृथुता के कारण उससे अल्प भूगोल की छाया आरम्भ में स्थूल एवं बाद में सूची का आकार धारण करती है। यह छाया सर्वदा सूर्य से भार्ध (१८०°) में सूर्य की समान गति से भ्रमण करती है। सूर्य से भार्ध (१८०° अंश के दूर) में चन्द्रमा इस छाया में ही प्रवेश करता है जिससे उसका अदर्शन भूवासियों के लिये होता है, और इसी दृग्बिषय को चन्द्रग्रहण कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा की युवि अमान्त को होती है। अर्थात् अमान्त को सूर्य और चन्द्रमा एक ही दृक्सूत्र में स्थित होते हैं। उस स्थिति में चन्द्र सूर्य के नीचे मेघ जैसे रहने के कारण वहां के लोगों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है जिसे सूर्य ग्रहण कहते हैं। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सूर्यग्रहण अमान्त को चन्द्रग्रहण पूर्णिमान्त को लगता है।

पात वा राहु विचार

ग्रहण हर एक अमान्त और पूर्णिमान्त को नहीं लगता है। प्रत्येक पूर्णिमा को और अमान्त को ग्राहक और ग्राह्य के बीच में पूर्वापरान्तर तो शून्य हो जाता है किन्तु उन दोनों के बीच में दक्षिणोत्तरान्तर रहने के कारण ग्राहक ग्राह्य का ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता है। इसका विवरण इस प्रकार है। ग्राहक और ग्राह्य की कक्षा स्थिति एक धरातल में नहीं होती है। भिन्न धरातलों में कक्षाओं की स्थिति के कारण दोनों बिम्बों में दक्षिणोत्तरान्तर रहता है। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योग बिन्दु में शून्य रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं के योगबिन्दुओं को पात कहते हैं और इनका सम्पात भी नाम है। इनमें पूर्व सम्पात को राहु और पश्चिम सम्पात को केतु भी कहते हैं।

पौराणिक गाथाओं में तो स्पष्ट रूप में उपलब्ध है कि ग्रहण का कारण सिंहिका का पुत्र राहु और केतु है। ये राहु और केतु एक ही शरीर के दो भाग हैं ऐसा कहा जाता है। राहु नामक असुर को भगवान विष्णु अमृतवितरण के समय में चक्र से संहार करने का प्रयास करते हैं किन्तु तब तक राहु के द्वारा अमृत निगलने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती है और शिर और धर अलग अलग प्राण से युक्त रह जाते हैं। अमृत वितरण के समय में राहु का देवताओं की पंक्ति में अमृत लेने की बात विष्णु को सूर्य और चन्द्रमा ने बतलाया था। अतः ये दोनों सूर्य और चन्द्रमा को अवसर मिलने पर निगलते एवं छोड़ते रहते हैं।

इसी गाथा का शास्त्रीय विश्लेषण इस प्रकार है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं का दो सम्पात बिन्दु होता है। उनमें एक सम्पात को पार करने के बाद चन्द्र सूर्य कक्षा के धरातल के ऊपर विचरण करने लगता है। अतः इस सम्पात को आरोहण सम्पात कहते

हैं। और इसी बिन्दु की संज्ञा सिद्धान्तज्योतिष में राहु है। भास्कराचार्य के अनुसार यद्यपि ग्रहण का कारक यह सम्पात बिन्दु है तथापि परम्परागत विचारों की पुष्टि हेतु इसे राहु कहने में कोई आपत्ति नहीं है। दो वृत्तों का अधिकाधिक सम्पात दो बिन्दुओं में हो सकता है और वे दोनों बिन्दु एक दूसरे से वृत्तार्ध की दूरी पर सर्वदा रहते हैं। अतः इस राहु नामक आरोहण सम्पात से १८० अंशों के अन्तराल में दूसरा सम्पात होता है जिसे प्राप्त कर चन्द्रमा सूर्य की कक्षा के धरातल के नीचे चला जाता है। अतः इसे अवरोहण सम्पात कहते हैं और इसी की संज्ञा है केतु। दोनों एक दूसरे से सर्वदा भार्ध में रहने के कारण और दोनों में तुल्यलक्षण और तुल्य गति के कारण इनको एक ही शरीर के दो अंग मानने में भी आपत्ति नहीं होती है। अतः हमारी परम्परा में, जनमानस में निर्विवाद स्थान प्राप्ति हेतु एवं जनसामान्य को सुलभरूप से अवगत कराने हेतु हमारे पूर्वजों ने इन गाथाओं को जन्म दिया है। जिनके कारण भारतवर्ष की जनसामान्य शास्त्रीय विषयों को न जानते हुये भी ग्रहण का कारण पीढ़ियों से जानता आ रहा है।

अब विचार करने योग्य विषय यह है कि ये राहु और केतु ग्रहण के कारक कैसे होते हैं? सूर्य और चन्द्रमा की कक्षाएँ एक धरातल में नहीं रहने के कारण दोनों के बीच में दक्षिणोत्तरान्तर उत्पन्न होता है। ग्रह सभी पूर्वाभिमुख भ्रमण करते हैं अतः इनके भ्रमण मार्ग भी पूर्वापरस्थिति में ही रहते हैं। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योगबिन्दु में शून्य रहता है उस योगबिन्दु के दोनों धरातलों में उभयनिष्ठ होने के कारण। ग्राहक बिम्ब के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का ग्रहण करने हेतु दोनों के बीच में सभी प्रकार के अन्तरों का अभाव होना अनिवार्य होता है। अतः जिस पूर्णिमान्त और अमान्त में यह राहु वा केतु नामक सम्पात बिन्दु भी उसी सूर्य वा चन्द्रमा के साथ रहते हैं उसी पूर्णिमान्त का अमान्त को चन्द्र और सूर्य के ग्रहण लग सकते हैं। अतः प्रत्येक पूर्णिमान्त और अमान्त को राहु वा केतु की स्थिति सूर्य और चन्द्र के साथ नहीं होती है और इस कारण से ग्रहण नहीं लगता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वापरान्तर प्रत्येक मास में एक बार शून्य होने पर भी सम्पाताभाव के कारण ग्रहण लगने से वंचित हो जाता है। अतएव ग्रहण के मुख्य कारक ये राहु और केतु नामक सम्पात ही माने जाते हैं।

गोलविदों को यह बात स्पष्ट है कि ग्रहण का कारण राहु नामक कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यदि इस बात का सरासर खण्डन किया जाय तो स्मृतिपुराणों में बतायी गयी बात असत्य सिद्ध होगी। यह स्थिति परम्परा एवं धर्म को संकटग्रस्त कर सकती है। अतः अधिकतर सिद्धान्तकार सामंजस्य बैठाने का प्रयास करते हैं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्तकार हैं ग्यारहवीं सदी के आचार्य भास्कर जो सिद्धान्तशिरोमणि के प्रणेता हैं, धीवृद्धि के रचयिता आचार्य लल्ल जो आर्यभट्ट के शिष्य माने जाते हैं, और सिद्धान्तशेखर के प्रणेता श्री श्रीपति। इन आचार्यों का विचार इस प्रकार है-

ब्रह्मा से वरदान प्राप्त राहु चन्द्रग्रहण के समय में भूछाया में प्रवेश करके चन्द्रमा का ग्रहण करता है और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा में प्रवेश करके सूर्य को आच्छादित कर देता है। अर्थात् इस प्रकार के विचार से गोलयुक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है और स्मृति पुराणवचन भी पुष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं यह बात इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि स्मृतिपुराण ज्योतिषपरक ग्रन्थ नहीं होने के कारण अत्यन्त दुष्कर गोलविज्ञानयुक्तियों को न बताकर जनसामान्य को अवगमन कराने हेतु महर्षियों का यह एक अद्भुत प्रयास है जो आज भी जनमानस में निर्द्वन्द्व है।

ग्रहणसम्भवस्थिति

ग्रहण गणित में ग्रहों के बिम्ब मानकर प्रमाण योजनाओं में न लेकर कलाओं में लेते हैं। ग्रहण में योजनात्मक ग्रह बिम्ब का प्रयोग नहीं होकर कलात्मक बिम्ब का प्रयोग होता है। सूर्य योजनात्मक बिम्ब के रूप में चन्द्रमा से अधिक होने पर भी वह पृथ्वी से चन्द्र की अपेक्षा अधिक दूरी में स्थित होने के कारण चन्द्र से छोटा दिखाई देता है। ग्रहण में दृश्य बिम्ब का महत्व होता है। इन ग्राहक (छादक) और ग्राह्य (छाद्य) बिम्बों के व्यासार्धों के योग को मानयोग दल कहते हैं। मानयोगदल और शर दोनों के मान तुल्य होने पर दोनों बिम्बों को परिधियाँ स्पर्श करती हैं। ज्यों-ज्यों शर अल्प होता जायेगा छादक बिम्ब छाद्य बिम्ब को ढकता जायेगा (आच्छादित करेगा) इस प्रकार शर पर दोनों के केन्द्रान्तर अन्तर शून्य न होकर कम होने पर भी ग्रहण हो सकता है। किन्तु इस स्थिति में ग्राहक ग्राह्य को पूर्ण रूप से न ढक कर जितना भाग ढक पाता है उतने का ही ग्रहण करता है। इस प्रकार ग्रह जब खण्डित रूप में दिखाई देता है या ग्रह का कुछ अंश अदृश्य होता है तो उस ग्रहण को खण्ड ग्रहण कहते हैं।

ग्राहक एवं ग्राह्य के बीच में पूर्वापरान्तर और दक्षिणोत्तरान्तरों का पूर्ण रूप से अभाव होने पर पूर्णग्रहण लगता है। पूर्णग्रहण की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। १. वलय, २. खग्रास। १. यदि ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से कलादिक मान में अधिक होता है तो वलयाकार ग्रहण होता है। यह ग्रहण केवल सूर्य में होता है। इस ग्रहण में परिधि प्रकाश मान तथा मध्य भाग काला होता है। जब ग्राहक बिम्ब ग्राह्य बिम्ब से बड़ा होता है तब बिम्ब के साथ-साथ आकाश का भी कुछ भाग ढक जाता है इस प्रकार के ग्रहण को खग्रास या खच्छन्न कहा जाता है।

ग्रहणसम्भवविचार

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हुआ है कि ग्राहक एवं ग्राह्य के पूर्वापरान्तर का अभाव हो और उनके साथ पात की स्थिति हो तो ग्रहण लग सकता है। किन्तु वह कितने अन्तर पर लग सकता है इस बात का विचार यहां पर प्रस्तुत है। ग्राहक ग्राह्य बिम्बों के केन्द्रों

का दक्षिणोत्तरान्तर शर कहा जाता है। और यह शर सम्पात बिन्दु में शून्य होता है। दोनों बिम्बों के मानैक्यार्ध (दोनों बिम्बों के व्यासार्धों के योग) तुल्यान्तर में दोनों बिम्बों का स्पर्श होता है। अर्थात् मानैक्यार्धतुल्य शर में ग्रहण का प्रारम्भ हो जाता है। यदि इस स्थिति के बाद वह अन्तर क्रमशः अल्प होता है तो शर का मान मानैक्यार्ध से अल्प हो जाता है। अर्थात् ग्राहक के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का कुछ अंश ग्रस्त (ढक) जाता है। यदि वह अन्तर कम होते-होते शून्य हो जाता है तो दोनों बिम्बों का केन्द्र भी एकत्र हो जाने से सर्वग्रहण (खग्रास) का सूचक होता है। इससे स्पष्ट है कि मानैक्यार्ध से अल्प शर होने पर ही ग्रहण सम्भव होता है।

ग्रहण सम्भव की सीमा निर्धारित करते हुये आचार्यों ने कहा है कि पर्वान्त में मानैक्यार्ध से शर अल्प हो तो राहु रहित सूर्य का भुजांश भी १४ अंश से अल्प हो तो चन्द्रग्रहण सम्भव होता है।

इस प्रकार-सूर्य से साधित क्रान्त्यंश को अक्षांश से संस्कृत करने पर नतांश प्राप्त होते हैं। उन नतांशों के छठे भाग से संस्कृत सपातसूर्य (राहु+सूर्य) के भुजांश स्पष्ट होंगे। यदि ये भुजांश ७ अंश से कम होते हैं तो सूर्यग्रहण सम्भव होता है अन्यथा नहीं। सूर्यग्रहण में सूर्य और चन्द्रमा का मानैक्यार्ध मध्यमान से ३२ कला होता है। उस मान के बराबर शर सपातार्कभुजांश के ७ अंश से कम रहने पर उत्पन्न होता है।

किन्तु सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं में ऊर्ध्वाधरान्तर के कारण पृष्ठीयचन्द्रमा गर्भीय चन्द्रमा से लम्बित होता है जिससे उपयुक्त परिस्थिति होने पर भी कभी-कभी ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है। उसका कारण इस प्रकार है। भूगर्भ से ग्रह बिम्बों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को गर्भीय दृक्सूत्र कहा जाता है तथा भू पृष्ठ स्थान से ग्रहबिम्बों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को पृष्ठीय दृक्सूत्र कहते हैं। अमान्त के समय में चन्द्रमा के केन्द्र से होते हुये निर्गत दृक्सूत्र क्रान्तिवृत्त में जहां स्पर्श करता है वहां चन्द्रमा का क्रान्तिवृत्तीय स्थान होता है। अमान्त काल में सूर्यबिम्ब और चन्द्रबिम्ब दोनों के केन्द्र भूगर्भीय दृक्सूत्र में रहने पर भी भूपृष्ठ स्थित द्रष्टा चन्द्र बिम्ब के स्थान को क्रान्तिवृत्त में सूर्य बिम्ब से पृथक् देखता हो अर्थात् गर्भीय दृक्सूत्र में दोनों बिम्ब एक ही स्थान पर रहते हुये भी पृष्ठीय दृक्सूत्र के अनुसार अन्तरित हो जाते हैं। क्रान्ति वृत्त में इस अन्तर को लम्बन कहा जाता है। दृक्सूत्रस्थ चन्द्रमा के लम्बित होने पर वह सूर्य बिम्ब को मेघवत् आच्छादित करने में असमर्थ रहता है ऐसी स्थिति में ग्रहण सम्भव नहीं होता। अतः सूर्यग्रहण हेतु लम्बनाभाव भी आवश्यक है। एक ही समय में किसी पृष्ठस्थान में शून्य लम्बन तथा किसी स्थान में परमलम्बन हो भी सकता है। अतः जिस अमान्त में जिस स्थान में चन्द्रमा लम्बित नहीं होता (लम्बन नहीं होता) उस स्थान में सूर्यग्रहण देखा जा सकता है। यही कारण है सूर्य ग्रहण सभी स्थानों में एक समान नहीं देखा जा सकता। लम्बन के समय में गर्भपृष्ठाभिप्रायक

बिम्बों के उपरिगत कदम्बप्रोतवृत्तों में जो दक्षिणोत्तरान्तर होता है उसे 'नति' कहते हैं। सूर्य के मध्यलग्न के बराबर होने पर अर्थात् खमध्य में रहने पर लम्बन का अभाव तथा क्षितिज के असान्न परम लम्बन होता है। इससे विपरीत खमध्य में नति का परमत्व तथा क्षितिजमें नति का अभाव होता है।

संहितास्कन्ध के अन्तर्गत ग्रहण का विचार

संहिताग्रन्थ में भी ग्रहण बहुधा वर्णित है। इन विचारों के अवलोकन से समसामयिक विषयों का एवं उस समय के ज्योतिषशास्त्र की स्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में ग्रहण का वर्णन विस्तृत रूप से उपलब्ध है। भिन्न प्रकार के ग्रहणों का भिन्न प्रदेशों में भिन्नफल, मास की दृष्टि से ग्रहण का फल आदि बहुत विषय इस स्कन्ध में प्रस्तुत है।

राहु की कल्पना के सन्दर्भ में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर लोकश्रुति-स्मृति एवं संहिताओं में सामञ्जस्य रखने के लिये राहु को ग्रह मानने की बात कही। इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ग्रहण काल में आचरित हवन जप दान आदि का अंश प्राप्त करने का वरदान राहु को ब्राह्मा ने दिया था। उसी राहुचाराध्याय में आचार्य मिहिर ने लोक में प्रचलित अनेक तर्कविहीन बातों का वर्णन कर उनका खण्डन भी किया है। यथा जल में तेल डाल कर ग्रहण के स्पर्श मोक्ष की दिशाओं का ज्ञान, वेलाहीन तथा अतिवेला ग्रहण आदि अनेक प्रसङ्गों को उद्धृतकर उनका खण्डन किया है। वराह मिहिर का स्पष्ट दृष्टिकोण रहा है कि गणितगत परिणामों में लोकश्रुति को कोई स्थान नहीं है गणित स्वयं प्रमाण है। सिद्धान्ततः ग्रहण की स्पर्श और मोक्ष की दिशाएँ सुनिश्चित हैं।

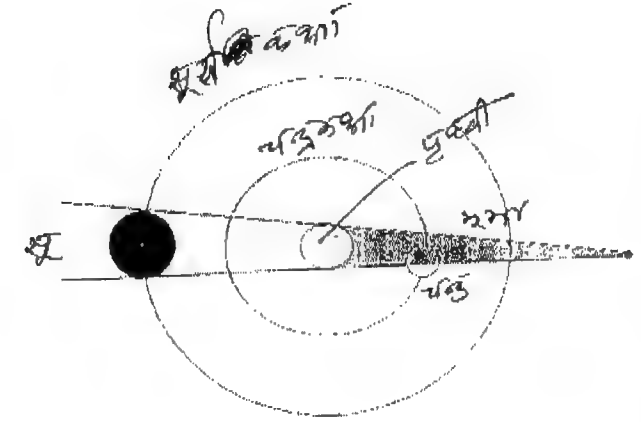
एकमास में दो ग्रहण

संहितास्कन्ध के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण यदि एक ही मास में लगते हैं तो राजा अपने बल सहित नष्ट हो जाता है और उस स्थान में शस्त्र कोप होता है। इसी विषय की चर्चा महाभारत में भी प्राप्त होती है। इसी का उद्धरण आचार्य भटोत्पल ने अपनी बृहत्संहिता की व्याख्या में की है। कुरुक्षेत्र संग्राम के पहले धृतराष्ट्र को दिये उपदेश में आचार्य व्यास के कुछ वचनों से यह बात स्पष्ट होती है। व्यासवचनों के अनुसार युद्ध के पूर्व कार्तिकपूर्णिमा में चन्द्रग्रहण और उससे आगे वाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था। एकमास में दो ग्रहण लगना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु दोनों का एक स्थान में दीखना कम सम्भव होता है। यदि ऐसा हुआ तो उसे उत्पात माना जाता है।

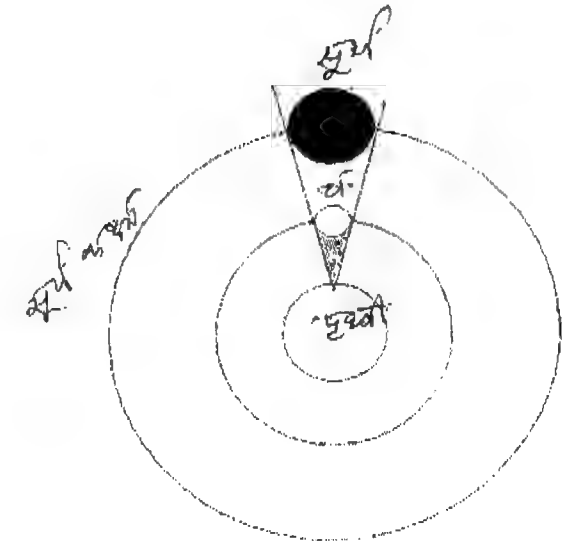
ग्रहण की विभिन्न स्थितियाँ

ग्रहण में स्पर्श सम्पीलन मध्यग्रहण उन्मीलन मोक्ष ये पांच स्थितियाँ होती हैं। मानैक्यार्थतुल्य शर के होने पर ग्राहक एवं ग्राह्य के आमने सामने स्थित पालियों का स्पर्श

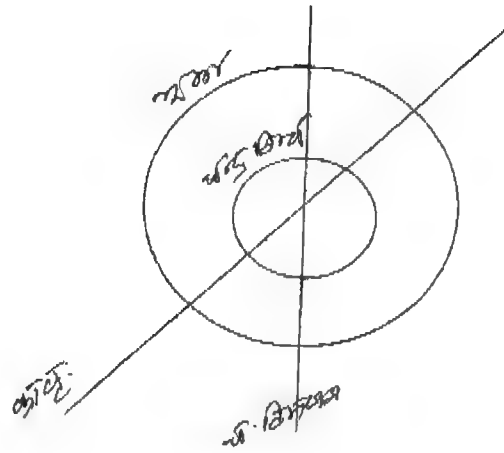
चन्द्रग्रहण



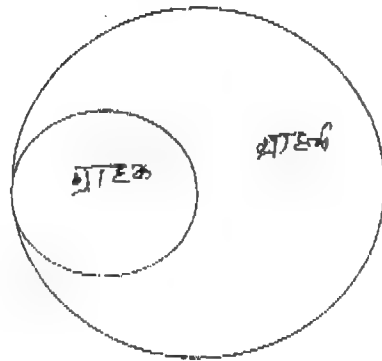
सूर्यग्रहण



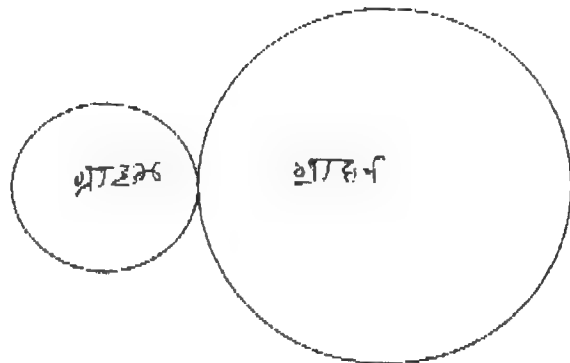
गध्यग्रहण (चन्द्र)



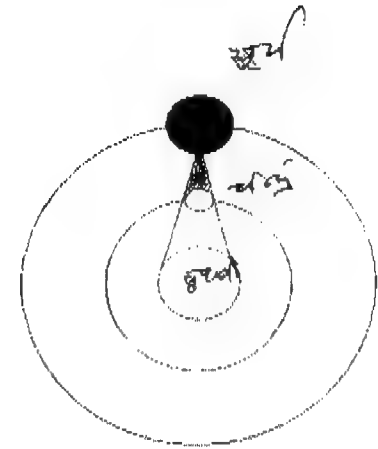
प्रसंगिक
उत्पीलन



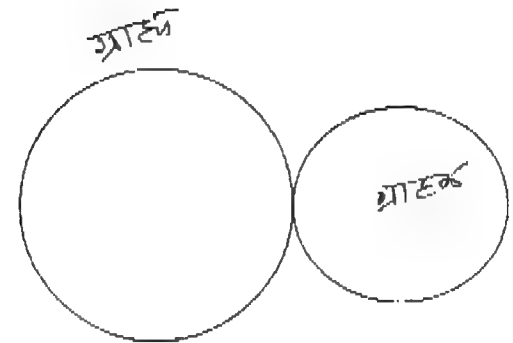
मोक्ष



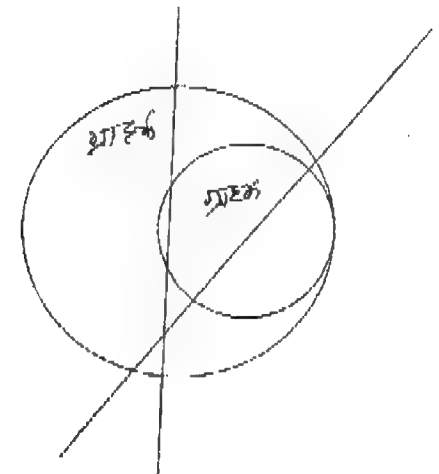
पृथ्वीग्रहण



स्पर्श



सम्पीलन



होता है जो ग्रहण की प्रारम्भिक दशा होती है। इसे स्पर्श कहते हैं। उसके बाद जब ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब में पूर्ण रूप से प्रवेश कर लेता है किन्तु उसका एक पाली ग्राहक बिम्ब की पाली से युक्त रहती है, इस स्थिति को सम्मीलन कहते हैं। जब दोनों बिम्बों के केन्द्रों की युति होती है तो उसे मध्यग्रहण कहते हैं। ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से बाहर आने के प्रयास में जब उसकी पाली ग्राहक की दूसरी पाली को स्पर्श करती है तो उसे उन्मीलन कहते हैं। उन्मीलन के बाद ग्राह्य बिम्ब का ग्राहक बिम्ब से बाहर आने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। सम्पूर्ण ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से बाहर आ जाता है किन्तु उसकी एक पाली अभी भी ग्राहक की पाली को स्पर्श कर रही होती हो तो उस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। यह ग्रहण की अन्तिम स्थिति होती है। इसके बाद ग्रहण समाप्त माना जाता है।

ग्रहण में स्पर्श से लेकर मोक्ष तक जो समय लगता है उसे स्थिति काल कहते हैं और उसके अर्धभाग को स्थित्यर्ध कहते हैं। इसी प्रकार सम्मीलन से लेकर उन्मीलन कालपर्यन्त जो समय लगता है उसे विमर्दकाल कहते हैं और उसका जो अर्धभाग होता है उसकी विमर्दार्ध संज्ञा है।

पृथ्वीग्रहण

सूर्यग्रहण की स्थिति के समय जिस प्रदेश के जनों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है उस प्रदेश का दर्शन सूर्य के पृष्ठ में भी नहीं हो सकता है, जिसे पृथ्वीग्रहण कहा जाता है। यह पृथ्वी ग्रहण का साधन शास्त्र पटुता को प्रगट करता है। यह ग्रहण भी संक्षेप में कमलाकर भट्ट जैसे महान खगोल विदों के द्वारा वर्णित है।

जो विचार सूर्यग्रहण के लिये प्रस्तुत किये गये हैं तथा जो विशेष परिस्थितियाँ सूर्यग्रहण के अन्तर्गत बताई गयी हैं वे सभी पृथ्वीग्रहण में भी होती हैं। इस ग्रहण में भी ग्राहक चन्द्र ग्राह्य पृथ्वी को मेघवत आच्छादित कर लेता है। परिणामतः चन्द्रग्रहण की भाँति पृथ्वी भी चन्द्रच्छाया में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो जाती है। इस स्थिति में चन्द्रकक्षा से ऊपर स्थित किसी भी कक्षा में भ्रमण करने वाले किसी भी खगोलीय पिण्ड के पृष्ठभाग में स्थित द्रष्टा को पृथ्वी का दर्शन नहीं होगा। अतः इसे पृथ्वीग्रहण कहते हैं। ग्राहक ग्राह्य बिम्बों के कक्षा भिन्न होने के कारण लम्बन आदि अन्तर यहां भी विचारणीय हो सकता है, किन्तु चन्द्रग्रहण की भाँति यहाँ भी चन्द्रच्छाया में पृथ्वी प्रविष्ट होकर ग्रहण ग्रस्त होगी। इस प्रकार पृथ्वी और चन्द्रच्छाया दोनों ही एक कक्षागत हो जायेगी। अतः गणित पूर्णतः चन्द्रग्रहण की तरह ही होता है। स्थिति स्थित्यर्ध विमर्द विमर्दार्ध मध्यग्रहण आदि जो स्थितियाँ उपर्युक्त ग्रहणों में वर्णित हैं वे सभी स्थितियाँ पृथ्वीग्रहण में भी उत्पन्न होती हैं।

ग्रास

ग्राहक बिम्ब के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का जो भाग आच्छादित किया जाता है उसे ग्रास कहते हैं। अर्थात् ग्रहण के समय में बिम्ब का जो भाग अदृश्य होता (ढक जाता) है उसे ग्रास कहते हैं। ग्राह्य और ग्राहकबिम्बों के योगार्ध से शर को घटाने (रहित करने) पर जो शेष होता है उसे ग्रासमान कहते हैं। अर्थात् उतना ही भाग ग्रसित होता है।

ग्रहण का वर्ण

यदि चन्द्रमा का ग्रस्तभाग अर्धाल्प होता है। तब धूम्रमय वर्ण होता है। यदि अधिक बिम्ब ग्रस्त होता है तो ग्रस्त भाग का वर्ण कृष्णवर्ण होता है। मोक्षाभिमुख ग्रस्त चन्द्रबिम्ब का वर्ण कृष्णताम्र होता है और चन्द्र का सम्पूर्ण ग्रहण लगने पर बिम्ब का वर्ण कपिल अर्थात् हल्का पीतवर्ण होता है। ग्रस्त सूर्यबिम्ब का वर्ण सर्वदा कृष्णवर्ण होता है।

एक वर्ष में ग्रहणों की संख्या

एक वर्ष में ग्रहणों की अधिकतम संख्या ७ होती है जिसमें ५ सूर्यग्रहण एवं २ चन्द्रग्रहण अथवा ४ सूर्यग्रहण और ३ चन्द्रग्रहण होते हैं।



भारतीय पञ्चाङ्ग प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी

विभिन्न आकाशीय सूचनाओं से युक्त विस्तृत तिथि पत्र एवं कालदर्शक को पञ्चाङ्ग कहा जाता है। इसमें तिथि, वार नक्षत्र योग और करण ये पाँच प्रमुख अंग होते हैं। इन्हीं पाँच अंगों के कारण इसे 'पञ्चाङ्ग' कहा भी जाता है। तिथि नक्षत्र आदि का साधन चन्द्रमा और सूर्य के योगांशों से किया जाता है। इसलिए भारतीय पञ्चांगों को चान्द्र-सौर पञ्चांग भी कहा जाता है अमान्त को आकाश में चन्द्र एवं सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक पूर्वापरान्तराभाव होता है। उसके पश्चात् सामान्यतया अपनी अधिक गति के कारण चन्द्र, सूर्य से आगे जाता हुआ प्रतीत होता है। जब चन्द्र एवं सूर्य के मध्य 92° का अन्तर होता है तब एक तिथि की पूर्ति होती है। इसलिए एक चान्द्रमास में (360° भ्रमण करने में) ३० तिथियाँ होती हैं। वार का मान एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त होता है। नक्षत्रमण्डल अथवा क्रान्तिवृत्त को आठ सौ कलाओं से विभक्त करने पर २७ समान भाग होते हैं। प्रत्येक भाग को नक्षत्र और उसे भोगने में चन्द्र को जितना समय लगता है, उसे नक्षत्र मान कहते हैं। सूर्य एवं चन्द्र के भोगांशों को जोड़ने से योग नामक अंग का साधन होता है। सूर्य एवं चन्द्र की गति को योग ८०० कला होने में जितना समय लगता है उसे योग मान कहते हैं। इनकी संख्या २७ होती है। 'करण' नामक अंग तिथि का आधा माना गया है। कह सकते हैं कि सूर्य एवं चन्द्र में ६ अंश का अंतर जितने समय में पड़ता है उसे करण कहते हैं। वस्तुतः करण का अलग से साधन नहीं किया जाता है अपितु तिथिकाल के आधे को करणकाल कहा जाता है। उपर्युक्त पाँच अंगों के अतिरिक्त सम्प्रति पञ्चाङ्ग पत्रकों में दैनिक व्यवहारोपयोगी दिनमान, ग्रहों के उदयास्त, ग्रहण विवरण, दैननन्दिन स्पष्ट ग्रह, दिनांक आदि सामग्रियाँ भी दी जाती हैं।

भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति निरयण चान्द्र सौरात्मक हैं। वर्ष प्रमाण निरयण सौरवर्ष के अनुसार तथा मास चान्द्रमास के अनुसार दिये जाते हैं किन्तु सौर एवं चान्द्र वर्षों में प्रायः ११ दिन का अन्तर प्रत्येक वर्ष परिलक्षित होता है। इसलिए लगभग प्रति तृतीय वर्ष (३२ मास १६ दिन ४ घटी पर) एक अधिमास प्रक्षेपण का आविष्कार हमारे चिन्तकों ने किया है, जिसके कारण ऋतुओं एवं मासों में सामंजस्य बना रहता है। इस प्रकार भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति में सौर चान्द्रमासों का संतुलन स्वयमेव होता रहता है।

पञ्चाङ्ग की आवश्यकता

सम्प्रति संपूर्ण विश्व के साथ-साथ भारत में भी ख्रीष्टीय सौर पञ्चाङ्ग का प्रचलन अधिक है जिससे अतिसामान्य दिनांक वार-मास एवं वर्ष की ही गणना की जाती है, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के लिए भारतीय पञ्चाङ्गों की उपादेयता अधिक है। हमारे

व्रतपर्वोत्सव प्रायः चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सह संबंध पर आश्रित है। यज्ञोत्सव-व्रत-पर्वोत्सव के सम्यक् निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती है। जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, होली, दीपावली आदि पर्वमहोत्सव, एकादशी, चतुर्थी, पूर्णिमा आदि व्रत, ग्रहणकाल, संक्रान्ति, महावारुणी, कुम्भयोगादि, पितरों के श्राद्धतिथिज्ञान, नवरात्रि में घटस्थापनादि, यात्रा-वास्तु-गृह प्रवेश आदि मुहूर्त, षोडशसंस्कार, भद्रा-रिक्ता-पञ्चक गण्डमूलादि दोषों का ज्ञान आदि सभी पञ्चाङ्ग की सहायता से निर्धारित होते हैं। ग्रामीण अञ्चलों में वृष्टि का पूर्वानुमान तिथि-नक्षत्र वारादिकों में वायु सञ्चारण के अनुसार ही ग्रामीण जन कर लिया करते हैं। सामाजिक कार्यों में भी जैसे जलाशय-खनन-भवननिर्माण आदि के लिए शुभ काल का ज्ञान एवं सामाजिक महोत्सवों के निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती है। इसलिए भारत सरकार द्वारा भी 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' का प्रकाशन प्रतिवर्ष किया जाता है।

पञ्चाङ्ग का उद्भव

धर्मपरायण भारत वर्ष में पञ्चाङ्ग का व्यवहार अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पञ्चाङ्ग का प्रचलन उस काल से आरम्भ हुआ जिस काल में ज्योतिष विषयक ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में रहा होगा। वस्तुतः पञ्चाङ्ग का उद्भव किस समय हुआ तथा किस कालखण्ड में उसका व्यवहार में सर्वप्रथम प्रचलन हुआ, यह कहना अति कठिन है किन्तु वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों का विस्तृत एवं विकसित वर्णन से अनुमान किया जाता है कि यह ज्ञान वैदिक काल से ही विद्यमान रहा होगा। अपने प्रारंभिक अवस्था में पञ्चाङ्ग के पाँचों अंग न होकर विकास क्रम में एकाङ्ग, द्व्यङ्ग, त्र्यङ्ग एवं चतुरङ्ग रहे होंगे। यद्यपि वे प्राचीन कालदर्शकपत्रक आज के मुद्रित पञ्चाङ्गों की भांति शुद्ध, स्पष्ट एवं विस्तृत नहीं रहे होंगे तथापि तत्कालीन परिस्थितियों एवं ज्ञान के अनुकूल यह एक महान उपलब्धि रही होगी। लिपि ज्ञान से पूर्व सम्भवतया यह ज्ञान भी मौखिक रूप से विद्यमान रहा होगा। हमारे देश में प्राचीन काल से ही श्रुतिपरम्परा रही है।

आकाश का अवलोकन करने पर सर्वप्रथम सूर्य एवं चन्द्र ने ही मनुष्य को प्रभावित किया होगा। प्रतिदिन सूर्य के उदय के साथ ही धरती पर प्रकाश का साम्राज्य एवं उसके अस्त होने पर अन्धकार का होना तथा रात्रि में चन्द्रमा के शीतल प्रकाश के साथ उदय होना, चन्द्रमा का प्रतिदिन स्वरूप परिवर्तन करना कभी अदृश्य हो जाना तथा कभी पूर्ण विम्ब में दिखाई देना निश्चय ही मानव मस्तिष्क को आपने विषय में सोचने के लिए विवश किया होगा। परिणामतः मनुष्य सूर्य एवं चन्द्र को आश्चर्य एवं कौतूहल दृष्टियों से देखते देखते इनके उदय अस्त के रहस्यों को समझने का प्रयास किया होगा तथा सूर्योदयों की

गणना प्रारंभ की होगी। वस्तुतः चन्द्र के अनियमित उदयों की गणना की अपेक्षा सूर्य के नियमित उदयों की गणना अधिक स्वाभाविक एवं सरल हैं। अतः सर्वप्रथम पञ्चाङ्गों में 'सावन दिन' का ज्ञान हुआ होगा। सम्प्रति सावन दिन के स्थान पर 'वार' का प्रयोग होता है। सावनगणना से ही सर्वप्रथम ३० सावन दिनों का १ मास एवं १२ सावन मासों का १ वर्ष। इस प्रकार ३६० सावन दिनों का १ वर्ष प्रचलित हुआ होगा। सूर्य के उदयों की गणना के कारण संभवतया सर्वप्रथम १ सावन वर्ष को ही सौरवर्ष कहते रहे होंगे। वेदों में ३६० दिवसात्मक संवत्सर का वर्णन प्राप्त होता है।^१ तत्पश्चात् चन्द्रमार्ग में आने वाले नक्षत्रों का ज्ञान हुआ। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। शंकर बाल कृष्ण दीक्षित जी का कथन है^२ कि वेदांग ज्योतिष काल (लगभग १४०० वर्ष शकपूर्व) तक तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र ये दो ही अंग प्रचलन में थे। तत्पश्चात् 'करण' नामक अंग का ज्ञान हुआ। वस्तुतः करण तिथि के ही भाग होते हैं। 'तिथ्यर्धम् करणम्' अर्थात् तिथि का आधा एक करण होता है। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। रवि आदि सात बारों की गणना पञ्चाङ्गों में ६०० शकवर्ष के बाद ही हुई।

इस प्रकार पञ्चाङ्ग के पाँचों अंगों का प्रचार एक साथ न होकर विकास क्रम से हुआ। सर्वप्रथम वर्ष एवं मास सावनात्मक ही रहे होंगे। धीरे-धीरे सावन मास एवं सावन वर्ष के स्थान पर चान्द्रमास एवं सौरवर्ष की स्थापना हुई होगी। भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति 'चान्द्रसौरात्मक' हुई। वस्तुतः वैदिक काल से ही पञ्चाङ्ग का ज्ञान विद्यमान था। यद्यपि उसमें सभी (पाँचों) अंगों का समावेश न रहा हो। फिर भी वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों की चर्चा हमें इस ज्ञान के अत्यन्त प्राचीन होने के अनुमान को बल प्रदान करती है।

पञ्चाङ्ग का वैदिककालीन स्वरूप

वैदिकसाहित्य में उपलब्ध पञ्चाङ्ग विषयक वर्णन से अनुमान होता है कि उस काल में चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग प्रचलन में था। काल के संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, मुहूर्तादि विभाग व्यवहार में थे।

एक वर्ष में १२ मास एवं १३ मास दोनों का ही वर्णन^३ चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग पद्धति का समर्थन करता है। चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सामंजस्य के लिए अधिमास प्रक्षेपण की कोई विधि अवश्य ही उस काल में विकसित रही होगी। उस काल में मासों की 'मधु, माधव आदि संज्ञा' तथा पर्यायरूप में 'अरुणरज आदि संज्ञाएँ'^४ मिलती हैं किन्तु चैत्र वैशाख

१. ऋ० सं० १/१६४/११ एवं १/१६४/४, २. भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ ५१७

३. द्र० तै० सं. ५/६/७, ४. तत्रैव ४/४/११ तथा वाजसनेयि संहिता अ० १३, १४, १५

५. ३ तै० ब्रा० ३/१०/१

आदि संज्ञायें प्राप्त नहीं होती। पूर्णिमान्त एवं अमान्त दोनों ही मासान्तों का प्रचलन होते हुए भी पूर्णिमान्त मान का ही वर्चस्व दिखाई देता है। मास के शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के पर्याय रूप में 'पूर्व' एवं पर पक्ष का वर्णन प्राप्त होता है। पञ्चाङ्गों में तिथि नामक अंग का साम्प्रतिक अर्थ वेदों में प्राप्त नहीं होता किन्तु वहाँ 'एकाष्टका, व्यष्टका, पूर्णमासी, अमा, उदृष्टा, इत्यादि तिथिसंज्ञक शब्द मिलते हैं। संभवतया वे रात्रिवाचक रही होंगी। बहुत समय के बाद वे 'तिथिवाचक' रूप में प्रयुक्त होने लगी होंगी। अमावस्या को चन्द्र सूर्य में प्रवेश करता है।^१ इस वचन से अमावस्या को चन्द्र सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक मिलन का आशय प्रकट होता है। वेदों में सप्तवारों, योग एवं करणों की चर्चा प्राप्त नहीं होती। किन्तु नक्षत्रों के विषय में विशद रूप से वर्णन प्राप्त होता है। नक्षत्रों की संज्ञा उनके देवता, उनकी तारासंख्या आदि के विषय में मनोहारी वर्णन अनेक स्थलों में प्राप्त होते हैं। साथ ही सप्तर्षितारामण्डल, नौतारापुञ्ज, श्वानतारापुञ्ज आदि के विषय में भी सुन्दर वर्णन मिलता है। सूर्य चन्द्र के अतिरिक्त शुक्र एवं गुरु का भी स्पष्ट वर्णन अनेक स्थानों में प्राप्त होता है जिससे 'पञ्चग्रहों' के ज्ञान का अनुमान होता है।

खग्रास सूर्यग्रहण की चर्चा वहाँ सामान्य रूप से मिलती है।^२ इससे ग्रहण गणित का उत्तम ज्ञान परिलक्षित होता है। अत्रिकुलोत्पन्न लोग अथवा अत्रिशिष्य ग्रहण गणित में निष्णात थे। ग्रहण चक्र के उल्लेख से अनुमान होता है कि ग्रहगति विषयक ज्ञान भी उस काल तक हो चुका था। दीक्षित महोदय के अनुसार वैदिक काल की उत्तर सीमा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व है।^३

वेदाङ्ग काल में पञ्चाङ्ग

वेदांग काल की मर्यादा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व से २०० वर्ष शकपूर्व तक मानी जा सकती है।^४ वेद के षडङ्ग माने गये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द। इनमें ज्योतिष नामक वेदांग की महात्मा लगभग प्रणीत वेदाङ्गज्योतिषम् नामक पुस्तक मिलती है। वेदाङ्ग ज्योतिष के भी ३ विभाग हैं।

१. ऋग्वेद ज्योतिष या आर्च ज्योतिष (३६ श्लोक)
२. यजुर्वेद ज्योतिष या याजुष ज्योतिष (४३ श्लोक)
३. अथर्ववेद ज्योतिष या आथर्वणज्योतिष (१६५ श्लोक)

इनमें आर्च एवं याजुष ज्योतिष में लगभग ३० श्लोक दोनों में एक जैसे हैं। आथर्वण ज्योतिष दोनों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं।

१. ऐ० ब्रा० ४०/५.

२. ऋ० सं. १/१०५/१० द्रष्टव्य-भगण समीक्षा पृष्ठ १८.

३. ऋ० सं. ५/४०/५-६.

४. भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ १६२.

५. वही पृष्ठ १६६.

वेदाङ्गज्योतिष पद्धति की प्रमुख विशेषता 'पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति' है। यद्यपि इसके बीज वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। पञ्चसंवत्सरात्मक युग का आरंभ माघ शुक्ल प्रतिपदा एवं युग की समाप्ति पौष कृष्णामान्त को होती है।^१ उस समय यद्यपि विषुव एवं अयन का ज्ञान था किन्तु अयन-चलन की चर्चा प्रायः नहीं दिखाई देती। वेदांग युग में सौर, चान्द्र, सावन, नक्षत्र एवं आर्क्षमानों का व्यवहार में प्रचलन था।^२ मास मुख्य रूप से चान्द्र थे किन्तु सौरमास का भी प्रचार था। युग में २ अधिमासों की व्यवस्था सौरचान्द्रमासों में सामंजस्य करने हेतु थी।^३ ऋतवारम्भ सूर्य नक्षत्र के अनुसार होता था। अमान्तमान का प्रचलन तथा पूर्णिमा एवं अमावस्या की पर्वसंज्ञा उस काल की विशेषता थी।

उस काल में पञ्चाङ्ग के २ अंग तिथि एवं नक्षत्र का ही प्रचलन मिलता है। यद्यपि अथर्वणज्योतिष में वार एवं करणों का भी वर्णन मिलता है किन्तु उसकी रचना प्रायः वेदांग काल की उत्तरमर्यादा के आसपास की है। ऋग्यजुर्वेदज्योतिष काल में 'कालदर्शक पञ्चाङ्ग पत्रक' में दिनमान, सावनदिन, तिथि, सूर्यनक्षत्र एवं चन्द्र नक्षत्र ही मुख्य अंग थे।

वेदांग ज्योतिषकाल में सूर्य व चन्द्र की मध्यमागति का ही ज्ञान था। अन्य ग्रहों एवं मेषादिराशियों का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय सूर्यचन्द्र की स्थिति का निरूपण भी नक्षत्र के अनुसार ही किया जाता था। धनिष्ठादि नक्षत्र सामान्य व्यवहार में कृतिकादिगणना थी। वेदांग ज्योतिष पद्धति के अनुसार यदि एक बार ५ वर्ष का पञ्चाङ्ग निर्माण किया जाय तो प्रत्येक पञ्चवर्षीय युग के लिए वह उपयुक्त होगा, ऐसा ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है किन्तु वेदांग ज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान में त्रुटियों के कारण वह पञ्चाङ्ग शीघ्र ही अनुपयोगी हो जायेगा।^४ इस पद्धति में क्षयतिथि, अधिकमास, नक्षत्रवृद्धि इत्यादि सभी कुछ हमेशा एक रूप हैं किन्तु वास्तविक रूप में उपर्युक्त गणनाएं एकरूप नहीं हैं उनमें हासवृद्धि होती रहती है। वस्तुतः पञ्चसंवत्सरात्मक युग में गणना के लिए सरलता देखकर वेदांग ज्योतिषकार ने ३६६ दिन स्वीकार किये किन्तु कुछ समय बाद ही वह पद्धति प्रत्यक्ष रूप से स्थूलता का प्रदर्शन करने लगी किन्तु अन्य मनीषियों ने यथायोग्य स्थलों पर संशोधन करते हुए भी इस पद्धति को आगे भी प्रचलित रहने दिया। अतः अपने मूल स्वरूप से कुछ भिन्न रूप में भी बहुत समय तक वेदांग ज्योतिष पद्धति प्रचलित रही। इसी कारण गणादि ऋषियों के लेखों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वेदांग ज्योतिष, जैन पद्धति के ग्रन्थों एवं पितामहसिद्धान्त के अति सन्निकट हैं।

अन्य वेदांगों में यद्यपि ज्योतिषीय पारिभाषिक शब्द प्राप्त नहीं होते किन्तु उनमें नक्षत्र तिथि मेषादि राशियों का वर्णन प्राप्त होने से स्पष्ट है कि उस काल में भी सामान्य जन

१. द्रष्टव्यं या. ज्यो. ५, २. या० ज्यो० २८-३१, ३. ३ या० ज्यो० १३

४. द्रष्टव्यं भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ १३१-१३३

पञ्चाङ्ग पत्रकों का प्रयोग करते थे। अनुमान होता है कि वेदांग काल के उत्तर में पञ्चवर्षात्मकयुगपद्धति के स्थान पर कल्पादि युग व्यवस्था धीरे-धीरे स्वीकृत होने लगी। निरुक्त^१ के वर्णन से कल्पादि युगपद्धति के प्रचलन का आभास होता है। उस समय मुहूर्त नाड़ी अहोरात्र-पक्ष मास-अयन-ऋतु वर्ष इत्यादि काल विभागों के ज्ञान का अनुमान होता है। वस्तुतः वेदांग काल में पञ्चाङ्ग ज्ञान विकासशील अवस्था में था।

स्मृति-पुराण एवं महाकाव्यों में पञ्चाङ्ग

स्मृति-पुराण-रामायण-महाभारतादि धर्मग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। फिर भी स्मृतिग्रन्थों, रामायण एवं महाभारत का रचनाकाल ५०० वर्ष ई० पू० से अर्वाचीन नहीं है। पुराणों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ५०० ईसा तक मानी जा सकती है। इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन धर्मों का मुख्य प्रचलन काल एवं प्राचीन ग्रन्थों का लेखन काल भी ५०० ईसा तक स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः यह समय वेदांगकाल एवं प्रसिद्ध सिद्धान्त युग का संक्रमण काल है।

स्मृतिग्रन्थों में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रथम मनुस्मृति में ही पुराण-सिद्धान्तज्योतिष ग्रन्थोक्त युग पद्धति का पूर्ण वर्णन मिलता है।^२ यद्यपि व्यतिपात नामक योग^३ का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु उसका वर्णन 'क्रान्तिसाम्य' के कारण किया गया प्रतीत होता है। अन्य योगों की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। ऋग्वेदपरिशिष्ट एवं आथर्वण ज्योतिष में करणों की चर्चा है, परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि वारज्ञान का अनुमान होता है। इसी प्रकार मेषादि संज्ञाएं प्रचलित न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त की द्वादशविभाग कल्पना प्राप्त होती है। ग्रहगति एवं ग्रहयुति के प्रति जिज्ञासा दिखलाई देती है। इस प्रकार स्मृति काल में पञ्चाङ्ग विज्ञान बाल्यावस्था से शैशव काल में पदार्पण करता हुआ सा आभासित होता है।

रामायण एवं महाभारत दोनों के काल में संवत्सर-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-तिथि-अहोरात्र मुहूर्त आदि काल विभागों के वर्णन कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। रामायण में यद्यपि 'पञ्चसंवत्सरात्मकयुगपद्धति' नहीं प्राप्त होती किन्तु महाभारत में मनुस्मृति में उक्त युगपद्धति के साथ-साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति का भी वर्णन मिलता है। दोनों में चान्द्रमास का ही व्यवहार है साथ ही उनका संबंध ऋतुओं के साथ भी परिलक्षित होता है। तिथियों की संज्ञा तथा मध्यम तिथि गणना का भी उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में पूर्णान्त एवं आमान्त दोनों मासान्तों का प्रचलन उपलब्ध होता है किन्तु रामायण में इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। पञ्चाङ्गों में वार, योग एवं करणों की चर्चा दोनों ही में नहीं मिलती। यद्यपि तिथि व नक्षत्रों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। रामायण में कुछ स्थलों

१. निरुक्त १४/४, २. मनुस्मृ० प्रथमा० ६८-७६, ३. या० स्मृ० आचाराध्या० २६७-२६८

पर राशि संज्ञा मिलती है किन्तु विद्वान् उन स्थलों को क्षेपक मानते हैं। महाभारत में कहीं भी राशियों की चर्चा प्राप्त नहीं होती, फिर भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश विभाग कल्पना अवश्य परिलक्षित होती है। प्रायः ग्रहों की स्थिति का निरूपण दोनों ग्रन्थों में नक्षत्र के आधार पर किया गया है। ग्रह, ग्रह युद्ध, वक्रत्व तथा ग्रहण आदि का वर्णन दोनों ही ग्रन्थों में मिलता है किन्तु आश्चर्यजनक है कि दोनों ही ग्रन्थों में 'अपर्व' के ग्रहण की भी चर्चा मिलती है। महाभारत में १३ दिवसात्मक पक्ष की चर्चा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूक्ष्मग्रहगणित का ज्ञान नहीं था तथापि स्थूलरूप से स्पष्ट गति का ज्ञान अवश्य था। महाभारत में मासादिकों के क्षयज्ञान के वर्णन से इसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः काल के सूक्ष्म विभाग परिकल्पना, ग्रहोदयास्त वर्णन इत्यादि विषय उस काल में ज्योतिषशास्त्र की उन्नत अवस्था को संसूचित करते हैं। पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर,^१ आग्निपुराण तथा नारदपुराण^२ में अन्यपुराणों की अपेक्षा ज्योतिष का विकसित शास्त्रीय स्वरूप दिखाई देता है। कालमान विभाग में मुख्यतया मुहूर्त के नीचे के कालमानों को लेकर पुराणों में परस्पर मतवैभिन्न्य है। यद्यपि मुहूर्त से कल्पपर्यन्त कालमान में सभी में एकवाक्यता है। ब्रह्मा की आयुप्रमाण में भी कुछ मतभेद है। इसमें विष्णुपुराण^३ का क्रम प्रायः सभी पुराणों में स्वीकृत है। इसी प्रकार दिन के ५ विभाग प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न एवं सायाह्न इनकी चर्चा^४ वर्तमान युग पद्धति के साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युग पद्धति,^५ मासों के चैत्र वैशाखादि नाम के साथ मधुमाधवादि वेदोक्त संज्ञाएं भी प्राप्त होती हैं।^६ इसी प्रकार श्रीमद्भागवत^७ नारदपुराण^८ मार्कण्डेयपुराण^९ भविष्यपुराण^{१०} ब्रह्मवैवर्तपुराण^{११} लिंगपुराण^{१२} स्कन्दपुराण^{१३} प्रभृति सभी महापुराणों में कालमान की चर्चा प्राप्त होती है।

पुराणों में नक्षत्रों का ६ वीथियों में विभाजन मिलता है। इन्हीं वीथियों में ग्रहभ्रमण की पुराणों की मान्यता है परन्तु इन वीथियों के नाम, नक्षत्रों का वीथियों में निवेशक्रम सभी पुराणों में अलग-अलग प्रकार से किया गया है, जिनमें विष्णुधर्मोत्तर पुराण^{१४} देवीभागवत^{१५} मत्स्यपुराण^{१६} आदि प्रमुख हैं। पुराणकाल में ज्योतिषीय दृष्टिकोण से ग्रहों का निरीक्षण, विशेष रूप से किया जाता था। साथ ही ज्योतिष का परीक्षण भी किया जाता था। द्वादश राशि, २७ नक्षत्रों की तारासंख्या, नक्षत्रों के प्रकाशवर्णों की भी चर्चा पुराणों में प्राप्त होती है। पुराणों में सप्तवारों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। इस प्रकार तिथि वार नक्षत्रों का स्पष्ट वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है।

१. वि०ध०पु० पितामहसिद्धान्त २/१६६-१७८, २. ना०पु०अ० ५४-५६, ३. वि०पु० १/३/७-२७
४. वही २/८/६१-६३ ५. वही २/८/७०-७२, ६. वही २/८/०६, ७. श्रीमद्भागवत ३/११/१-७
८. ना०पु०पूर्वार्द्ध ५४/६१-६३, ९. मा०पु० ४३/२३-४४, १०. भवि०पु० १/५३-५४
११. ब्रह्मवै०पु० ५/५-१५, १२. लिङ्ग पुराण पूर्वार्द्ध अ०४, १३. स्क०पु०ना०हो०मा०२७२/३-७
१४. वि०ध०पु०/८५/२-६, १५. दे०भा०पु० ८/१५/१-६, १६. मत्स्य पुराण १२३/५२-५६

पुराणकाल के साथ ही जैन एवं बौद्ध धर्मों का उत्थानकाल भी प्रारम्भ होता है। जैन ग्रन्थों में प्रायः वेदाङ्ग ज्योतिष पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु जैन ग्रन्थों में २ सूर्य २ चन्द्र ५६ नक्षत्र इत्यादि की भी चर्चा मिलती है। जैन ग्रन्थों में नक्षत्र गणना प्रायः अभिजित् नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। वहाँ ८८ महाग्रहों का वर्णन भी मिलता है। दिन-मास-पक्ष-अयनादि की पर्याप्त चर्चा जैनग्रन्थों में स्वीकृत है। बौद्ध धर्म में ज्योतिषशास्त्र को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। फलतः इस शास्त्र की समृद्धि में बौद्धों का सहयोग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रायः ५०० ईसावर्ष तक का यह काल ज्योतिष शास्त्र का संक्रमण काल था जिसमें सिद्धान्तों एवं गणितीय प्रविधि में क्रमशः विकासशीलता दिखलाई देती है। भारतीय ज्योतिष के प्रसिद्ध त्रिस्कन्धज्योतिर्विद महर्षियों^१ में से अधिकांश का काल भी इसी समयावधि में माना जा सकता है।

प्रथम सिद्धान्तकालीन युग में पञ्चाङ्ग

भारतीय ज्योतिष का यह युग स्वर्णिम युग कहा जाता है। इसकी कालावधि प्रायः ५ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक मानी जा सकती है। इस काल में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीधर, मुञ्जाल, श्रीपति, भास्कराचार्य प्रभृति विद्वानों ने अपने गणितीय कौशल से ज्योतिष शास्त्र एवं पञ्चाङ्ग विज्ञान को समृद्ध बनाया। प्रसिद्ध वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का काल भी इसी समयावधि के बीच विद्वान् लोग मानते हैं। वर्तमान युग पद्धति का सुदृढ़ीकरण, ग्रहगतियों का नभनिरीक्षण द्वारा सत्यापन, ग्रहभगणों के मानों का संशोधन, वेधपरम्परा का विकास, पञ्चाङ्ग के गणितीय नियमों की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न इत्यादि इस सिद्धान्तकालीन युग की प्रमुख विशेषता थी।

सर्वप्रथम आर्यभट्ट प्रथम ने अपने 'आर्यभटीयम्' नाम ग्रन्थ (४२१ शक) में पृथ्वी के स्वाक्षभ्रमण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।^२ अपने वेधों के द्वारा ग्रहभगणों के मूल्यांकों में संशोधन कर उन्होंने पञ्चाङ्ग पद्धति को 'दृक्प्रत्यपद' करने की चेष्टा की। ग्रहण गणित एवं उसके कारणों की व्याख्या भी उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से की। वराहमिहिर (४२७ शक) ने अपने समय में प्रचलित पाँच प्रमुख सिद्धान्तों-पितामह-वासिष्ठ-रोमक-पोलिश एवं सूर्य सिद्धान्तों के गुण दोषों का सम्यक् समीक्षा कर 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक करणग्रन्थ की रचना की जिसमें उक्त पाँच सिद्धान्तों के नियमों का प्रतिपादन मिलता है। उन्होंने अपने काल में 'सूर्यसिद्धान्त' को सर्वाधिक स्पष्ट एवं 'दृक्प्रत्यपद' कहा है। स्मरणीय है कि वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त, वराहोक्त सूर्यसिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। दोनों के मूल्यांकों एवं अन्य गणितीय प्रविधियों में अन्तर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। सम्भवतया

१. आर्यभट्टीय २. आर्यभट्टीय

नभनिरीक्षण द्वारा निरन्तर प्राचीन सूर्यसिद्धान्त को संशोधित कर 'दृक्प्रत्ययपद' करते हुए वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का संस्करण तैयार हुआ होगा। कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्तमान सूर्य सिद्धान्त 'लाटदेव' द्वारा परिष्कृत है। इसलिए वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल इसी कालावधि के अन्तर्गत है। प्रो० सेनगुप्त का कथन है कि 'वराहमिहिर के द्वारा सूचित सूर्यसिद्धान्त ने खगोल विद्या के तत्त्वों को आर्यभट्ट से लिया और इस समय प्रचलित सूर्य सिद्धान्त ने ब्रह्मगुप्त से अपने तत्त्वों को लिया।' किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि वराह द्वारा सम्पादित सूर्यसिद्धान्त आर्यकष्ट और ब्रह्मगुप्त से भी प्राचीन है। आज भी सूर्यसिद्धान्त भारतीय ज्योतिषों द्वारा अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता है तथा प्राचीन पञ्चाङ्ग पद्धति का मुख्य ग्रन्थ इसे ही माना जाता है।

ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की। इसे ही 'ब्रह्मसिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने ग्रहभगणों एवं वर्षादिकों के मानों में प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध मान द्वारा संशोधन किया। इस प्रकार सिद्धान्त युग में सौर, आर्य एवं ब्राह्म इन तीन पञ्चाङ्ग पक्षों की स्थापना हुई। इसके बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने इन तीनों पक्षों में से ही एक का आश्रय लेकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। जैसे आर्यसिद्धान्त का पक्ष लेकर लल्ल ने शिष्यधीवृद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त पक्षीय, भास्वतीकरण, ब्राह्मपक्षीय-राजमृगाङ्क, 'करणकमलमार्तण्ड, आर्यपक्षीय 'करणप्रकाश' प्रभृति करणग्रन्थ इस काल के प्रमुख करणग्रन्थ हैं। मुज्जाल (८५४ शक) ने सर्वप्रथम अयन-चलन के संपूर्ण भ्रमण की बात कही। इस प्रकार यह सिद्धान्त युग वस्तुतः भारतीय ज्योतिष का स्वर्णयुग है जिसमें निरन्तर वेध परम्परा गणित कुशलता एवं पञ्चाङ्गीय पद्धतियों का विकास दृष्टिगोचर होता है।

उत्तरसिद्धान्तकालीन युग

इसकी कालावधि प्रायः १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी पर्यन्त मानी जा सकती है। यह काल भारतीय ज्योतिष की दृष्टि से अन्वेषण एवं शोध के हास का काल है। यद्यपि मकरन्द, केशव, गणेश, कमलाकर, प्रभृति, उद्भट विद्वान् इस काल में हुए तथापि इस काल के अधिकांश ज्योतिर्विदों ने अपना परिश्रम प्रायः उपपत्ति, पञ्चाङ्ग सारिणीनिर्माण एवं अपने-अपने पक्ष का अभिमानी ग्रन्थ लिखने में ही लगा दिया। नवीन शोध एवं अन्वेषण इस काल में कम ही हुए जबकि इसी काल के उत्तरार्ध से यूरोप में ज्योतिर्विज्ञान संबंधी अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त होने लगीं। मकरन्दरचित सूर्यसिद्धान्त की पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी सारिणी मकरन्द-प्रकाश सौर पक्षीय प्रमुख सारिणी ग्रन्थ है। इसमें सूर्यसिद्धान्त के भगणों का संस्कार किया गया है। इस काल में केशवाचार्य और गणेशदैवज्ञ दोनों पिता

१. उद्धृत-पञ्चाङ्ग सुधार समिति का प्रतिवेदन हि.अनु. पृ. ४७६.

पुत्र प्रमुख ज्योतिर्विद हुए। इन्होंने वेध द्वारा ग्रहों के भगणादिकों का शुद्ध मान स्थिर किया तथा क्रमशः 'ग्रहकौतुक' एवं 'ग्रहलाघव' नामक करण ग्रन्थों की रचना की, किन्तु केशव का 'ग्रहकौतुक' ग्रन्थ अपने पुत्र गणेश के 'ग्रहलाघव' के सामने अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पाया। इस का एक मात्र कारण यही है कि ग्रहलाघव ज्या चाप आदि गणितीय जटिलताओं से मुक्त था। अत्यन्त सरल होने के कारण ही यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। आज भी कतिपय स्थानों में ग्रहलाघव के अनुसार पञ्चाङ्ग बनते हैं किन्तु लाघव के कारण आज इसके ग्रहादिकों में अत्यधिक अन्तर आचुका है। गणेशदैवज्ञ ने 'तिथि चिन्तामणि' नामक सारिणी ग्रन्थ की भी रचना की। गणेशदैवज्ञ के उपरान्त प्रायः ज्योतिर्विदों ने ग्रहलाघव आदि ग्रन्थों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी सारिणियों के निर्माण पर ही अधिक बल दिया। यद्यपि कमलाकर, मुनीश्वर सद्दृश ज्योतिर्विदों ने कुछ सिद्धान्तग्रन्थों की रचना की किन्तु पञ्चाङ्ग निर्माण के क्षेत्र में तथा वेध परम्परा में कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ।

अर्वाचीन काल

इस काल का प्रारंभ प्रायः १७ वीं शताब्दी से माना जा सकता है। इस काल में सर्वप्रथम आमेर के राजा जयसिंह (राज्याभिषेक शक १६१५) ने पञ्चाङ्ग के क्षेत्र में सुधार हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय यवन एवं तत्कालीन यूरोपियन ज्योतिषग्रन्थों से दृक्प्रत्यय न होता देखकर इन्होंने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, काशी एवं मथुरा में वेधाशालाएं बनवाईं। जयप्रकाशयन्त्र, सम्राट्यन्त्र, भित्तियन्त्र वृत्तषष्ठांश राम यन्त्र दिगंशयन्त्र, चक्रयन्त्र आदि कुछ नवीन यन्त्रों का निर्माण करवाया तथा उत्तम ज्योतिषज्ञों के द्वारा कई वर्षों तक वेध कराकर अरबी में जिजमहम्मद (शक १६५०) तथा संस्कृत में पण्डित जगन्नाथ द्वारा सिद्धान्त सम्राट् नामक (१६५३) ग्रन्थों की रचना करवाई। यह गर्व की बात है कि तत्कालीन यूरोपियन ग्रन्थागत ग्रहगति स्थिति की अपेक्षा जयसिंह की गणना अधिक सूक्ष्म होती थी। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि उनके बाद उनकी वेधाशालाओं का उपयोग बन्द हो गया। न तो उनके ग्रन्थ प्रचलित हुए न उनके अनुसार दृक् पञ्चाङ्ग निर्माण परम्परा प्रारंभ हुई यद्यपि पाश्चात्य ज्योतिष का प्रवेश भारत में इसी समय होने लगा था। बापूदेव शास्त्री, विनायक केरो, लक्ष्मण छत्रे, विराजी लेले, रघुनाथ चिन्तामणि, शंकरबाल कृष्ण दीक्षित, बालगंगाधर तिलक प्रभृति विद्वानों ने नाटिकल अल्मनाक के आधार पर पञ्चाङ्ग निर्माण कर नवीन पद्धति का सूक्ष्म पञ्चाङ्ग प्रचलित करने का प्रयास किया। इसी दिशा में चन्द्रशेखर सिंह सामन्त (१७५७ शक) ने स्वनिर्मित स्थूल यन्त्रों की सहायता से 'दृक्प्रत्ययद' परिणाम प्राप्ति हेतु ग्रहों के मूल्यांकों का संशोधन कर 'सिद्धान्त दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। वेंकटेशबाबूजी केतकर ने ग्रहलाघवीय ढंग पर संस्कृत श्लोकों

१. उद्धृत भा०ज्यो० दीक्षित (हि०अनु०) पृष्ठ ४०१

में अर्वाचीन ज्योतिष के आधार पर पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी 'केतकी ग्रहगणित' नामक ग्रन्थ की रचना १८६८ शक में की। इसके गणितीय परिणाम पर्याप्त शुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने नाटिकल आल्मनाक के आधार पर ही पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी ज्योतिर्गणित नामक कोष्ठक सारणी ग्रन्थ, वैजयन्ती पंचांग नामक सारणी ग्रन्थ, 'सौरार्यब्राह्मपक्षीय-तिथिगणितम्' प्रभृति अनेक ग्रन्थों की रचना की। केतकर मुख्यतया 'चित्रापक्षीय अयनांश' के समर्थक थे। शक १८५१ में ग्रहलाघव के ढंग पर ही गोविन्द सदाशिव आपटे महोदय ने नाटिकल आल्मनाक के आधार पर ही 'सर्वानन्द करण' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये रैवतपक्षीय आयनांश के समर्थक तथा केतकर के चित्रापक्षीय अयनांश के प्रबल विरोधी थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के समय विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मतानुसार पञ्चाङ्ग पत्रकों का निर्माण होता था जिस कारण व्रत पर्वोत्सवों के उचित निर्णय करने में अत्यन्त कठिनाई लगी। इसके अतिरिक्त सायन एवं निरयण पक्षाभिमानी अपने-अपने पक्षों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माण का आग्रह करने लगे थे। अतः भारत सरकार ने अखिल भारतीय पञ्चाङ्ग के बारे में सुझाव देने के लिए नवम्बर सन् १९५२ में प्रो० मेघनाद साहा की अध्यक्षता में पञ्चाङ्ग सुधार समिति का गठन किया। इस समिति ने सायन वर्ष सौर पञ्चाङ्ग एवं सायनवर्ष चान्द्र सौर पञ्चाङ्ग की संस्तुति की। सरकार द्वारा सायनवर्ष सौरपञ्चाङ्ग स्वीकृत कर २२ मार्च १९५७ ई० से 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' में गणित नाटिकल आल्मनाक पद्धति से किया जाता है। किन्तु पञ्चाङ्गकर्त्ताओं एवं पारम्परिक दैवज्ञों तथा धर्मशास्त्रियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे अपनी-अपनी पद्धतियों से पञ्चाङ्ग निर्माण करते रहे। फरवरी सन् १९८६ ई० में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग ने प्रो० एस० पी० पांड्या की अध्यक्षता में "भारतीय पञ्चाङ्ग एवं अवस्थानिक खगोलशास्त्र समीक्षा" समिति द्वारा जनवरी १९८७ में मुम्बई में एक विचार गोष्ठी आयोजित की जिसमें निश्चित दिनों वाले निरयण सौर महिनो तथा आधुनिक पद्धति के गणित की संस्तुति की गयी थी किन्तु समिति ने अन्तिम रिपोर्ट में ५ वर्ष की और अवधि राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के प्रचार-प्रसार के लिए देना उचित समझा। इससे राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के अपेक्षित उपयोग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अप्रैल सन् १९९४ में दिल्ली में श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली एवं महर्षि सन्दीपनी राष्ट्रीय वेद विद्यापीठ ने एक 'अखिल भारतीय पञ्चाङ्गकर्त्ता सम्मेलन' आयोजित किया जिसमें विचार विमर्श के बाद निरयण सौर पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा पञ्चाङ्ग निर्माण धार्मिक एवं सामाजिक उपयोग के लिए युक्ति संगत स्वीकार किया गया।

१. देखिए पञ्चांग में काल गणना पृष्ठ १६-२५

आजकल प्रायः सम्पूर्ण भारत में निरयण पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा ही पञ्चाङ्ग निर्माण का प्राधान्य है।

सम्प्रति पञ्चाङ्गों की स्थिति

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि प्राचीन स्थूल पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को छोड़कर अधिकांश विद्वान अर्वाचीन सूक्ष्मपञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को अपना रहे हैं। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में मकरन्द सारिणी, ग्रहलाघवादि प्राचीन पद्धतियों द्वारा निर्मित पञ्चाङ्ग भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उन पञ्चाङ्गों में भी ग्रहण, ग्रहों के उदयास्त आदि अंश अर्वाचीन प्रद्धति से ही साधित होते हैं। यदि प्राचीन पद्धति से ग्रहणादि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली घटनाओं के काल का निर्धारण किया जाता है तो प्रत्यक्ष ही विषमता परिलक्षित होती है। इसी भय से प्रायः प्राचीन स्थूल पद्धति से निर्मित पञ्चाङ्गों में परीक्षणीय घटनाओं का निर्धारण अर्वाचीन गणित से ही दे दिया जाता है।

सम्प्रति अर्वाचीन पद्धति से निर्मित होने वाले पञ्चाङ्गों के मुख्यतया ३ पक्ष हैं। प्रथम-केतकरीय चित्रापक्षीयपद्धति, द्वितीय रैवतपक्षीय पद्धति एवं तृतीय सायनपद्धति। इसमें सायन पद्धति प्रत्यक्ष दृक्सिद्ध होती है। इसकी गणना वेधशालाओं एवं शुद्ध सारिणीयों द्वारा दी हुई है। रैवतपक्षीय पद्धति में रैवतीय अयनांश का संस्कार किया जाता है। केतकरीय पद्धति में चित्रापक्षीय अयनांश का संस्कार होता है। 'ज्योतिर्गणित', 'केतकी ग्रहगणित', 'ग्रहगणित मालिका', 'वैजयन्ती पञ्चाङ्गगणित' आदि इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं। सम्प्रति केतकरीय चित्रापक्षीय पद्धति अधिक प्रचलित है। निरयण पक्ष का भारतीय ज्योतिष में महत्त्व के कारण सायनपक्षीय पञ्चाङ्ग अत्यन्त प्रचलित हैं। ध्यातव्य है कि केतकरीय पञ्चाङ्ग गणना में भी प्रत्यक्ष दृक्प्रत्ययद निरयण गणना के सापेक्ष कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होने लगे हैं। अतः उचित संस्कार कर केतकरीय पद्धति से निर्मित पञ्चाङ्ग आज भी सामयिक एवं उपयोगी हो सकते हैं।

पञ्चाङ्ग के अवयवों के नाम एवं परिचय-

१. तिथि-चन्द्रमा की दैनिक गति की सूचक होती है। इसे सूर्य और चन्द्रमा के आन्तरांश को ६२ से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। तिथियाँ ३० होती हैं। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ तिथियाँ शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से अमावस्या तक १५ तिथियाँ कृष्ण पक्ष होती हैं। पूर्णिमा को १५ तथा अमावास्या को ३० संख्या से व्यक्त किया जाता है। पूर्णिमा और अमावास्या के आतिरिक्त शेष प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी तथा चतुर्दशी दोनों में पक्षों में समान रूप से होते हैं।

२. वार- वार सात होते जिसके नाम क्रम से रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, तथा शनिवार हैं। इनके क्रम का निर्धारण भूमेन्द्रिक ग्रह कक्षा के आधार पर किया जाता है। शनि से आरम्भ कर अधोऽधः क्रम से चौथी-चौथी कक्षा का ग्रह वार का स्वामी होता है। यथा शनि से चौथी कक्षा सूर्य की अतः पहला वार रविवार रवि से चौथी कक्षा चन्द्र की अतः दूसरा वार सोमवार (चन्द्रवार), चन्द्रमा से चौथी कक्षा भौम अतः तीसरा वार भौमवार आदि।
३. नक्षत्र-नक्षत्र २७ होते हैं। इनके नाम क्रम से अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रा, रेवती। उत्तराषाढा के अन्तिम तथा श्रवण के आदि के अंशों को अभिजित कहा जाता है। इसको सम्मिलित करने पर नक्षत्रों की संख्या २८ हो जाती है। एक नक्षत्र का मान नक्षत्र कक्षा में ८०० कला के तुल्य होता है।
४. योग-सूर्य और चन्द्र में भोगांशों के योग से योग साधित होता है। योग भी २७ होते हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-१. विष्कुम्भ, २. प्रीति, ३. आयुष्मान, ४. सौभाग्य, ५. शोभन, ६. अतिगण्ड, ७. सुकमी ८. धृतिः, ९. शूल, १०. गण्ड, ११. वृद्धि, १२. ध्रुव, १३. व्याघात, १४. हर्षण, १५. वज्र, १६. सिद्धि, १७. व्यतिपात १८. वरीयान, १९. परिध, २०. शिव, २१. सिद्धि, २२. साध्य, २३. शुभः २४. शुक्ल, २५. ब्रह्म, २६. ऐन्द्र, २७. वैधृति। इन्हें चर योग कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आनन्द, कालदण्ड, धूम्र, धाता आदि २८ स्थिर योग होते हैं किन्तु इनकी गणना पाँच अवयवों में नहीं है।
५. करण-एक तिथि के आधे भाग को एक करण कहते हैं। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। करण दो प्रकार के होते हैं-१. चर करण, २. स्थिर करण। चरकरण ७ होते हैं। क्रमशः इनके नाम हैं बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर बणिज, विष्टि। स्थिर करण-की संख्या चार होती है तथा इनके नाम हैं क्रमशः १. शकुनि, २. चतुष्पद, ३. नाग, ४. किंस्तुघ्न।
- इन्हीं पाँचों अवयवों के संयुक्त विवरण ही पञ्चाङ्ग कहलाता है।



वराहमिहिर और पञ्चसिद्धान्तिका

डॉ. मोहन गुप्त

यच्छास्त्रं सविता चकार विपुलैः स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्योतिषं
तस्योच्छ्रितभयात् पुनः कलियुगे संसृत्य यो भूतलम्।
भूयः स्वल्पतरं वराहमिहिर-व्याजेन सर्वं व्यधा-
दित्थं यं प्रवदन्ति मोक्षकुशलास्तस्मै नमो भास्वते।^१

“विपुल तीन स्कन्धों से युक्त जिस ज्योतिष शास्त्र को भगवान् भास्कर ने बनाया, कलियुग में उसमें विच्छेद न आ जाय, इस भय से सारी पृथ्वी का भ्रमण करके, वराह मिहिर रूपी सत्पात्र पाकर उसके व्याज से संक्षेप में जिन्होंने पूरा शास्त्र कह डाला, ऐसा जिनके बारे में मुमुक्षु जन कहते हैं उन भगवान् भास्कर को मेरा प्रणाम”।

१.१ ज्योतिष शास्त्र के भुवन दीपक सदृश आचार्य वराह मिहिर के विषय में उनके प्रशस्त टीकाकार आचार्य भट्टोत्पल ने उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता की टीका प्रारंभ करते समय ये विचार व्यक्त किये हैं। समुद्र की विशालता तथा गहराई को वास्तव में वही व्यक्ति समझ सकता है जिसने उसे पार किया हो। इसलिये यद्यपि आचार्य भट्टोत्पल की इस प्रशस्ति में कुछ अर्थवाद हो सकता है किन्तु आचार्य वराहमिहिर की जिस प्रतिभा का निदर्शन उनके ग्रन्थों से होता है, उस पर विचार कर यह यथार्थ ही लगता है। वराह मिहिर आधुनिक वैज्ञानिक ज्योतिष के आधार स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों-सिद्धान्त होरा तथा संहिता पर प्रामाणिक तथा सांगोपांग ग्रन्थों की रचना की। वे भारतीय ज्योतिष के प्रकाश स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के अतीत पर प्रकाश डाला अन्यथा पैतामह तथा वासिष्ठ जैसे अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त जो भारत में ज्योतिष के आविर्भाव की कहानी कहते हैं, विस्मृति के गर्त में चले जाते और विश्व के सन्दर्भ में ज्योतिर्विज्ञान के जनक के रूप में भारत की पहचान तिरोहित हो जाती। उन्होंने वर्तमान का शोधन किया। उनके समय के अनेकों पूर्वाचार्यों-प्रद्युम्न, विजयनन्दी, सिंहाचार्य, मणि, यवन, भद्रविष्णु, पादादित्य तथा आर्यभट आदि के मतों की समीक्षा की तथा अपने युग की ग्रहस्थिति को दृक्तुल्य बनाने के लिये मध्यम मान में बीज संस्कार दिये। गणित की प्रक्रिया को सरल तथा अधिक बोधगम्य बनाया एवं अनावश्यक बारीकियों को, जिनके न रहने से ग्रह गति स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, प्रक्रिया से अलग किया। उसके स्थान पर सरलतर प्रक्रिया देकर भविष्य के लिये दैवज्ञों तथा गणकों का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि

१. बृहत्संहिता : वराह मिहिर, भट्टोत्पल की टीका सहित-वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।
सं० अवध बिहारी त्रिपाठी (शक १८६० सन् १८६८) पृ० १.